

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180006

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83.1/P 91K Accession No. G. H. 1268

Author प्रसाद, राधाकृष्ण /

Title कटे पंख / 2001 V-S.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

कटे पंख

[प्रगति के तत्त्वों से निर्मित, मनोवैज्ञानिक, कलात्मक कहानियाँ]



लेखक

श्री राधाकृष्णप्रसाद बी० ए० (ऑनर्स)



प्रकाशक

पुस्तक-भंडार

पटना और लहेरियासराय

संवत् २००१]

[मूल्य १।]

पुस्तक-भंडार
लहेरियासराय और पटना

प्रथम संस्करण
(सन् १९४५)

मुद्रक
श्री जयनाथ मिश्र
हिमालय प्रेस, पटना ।

विशेष

कहानी-कला भी लगभग उतनी ही पुरानी है जितनी यह सृष्टि । इसके क्रमिक विकास पर आपने बहुत कुछ पढ़ा एवं सुना होगा । अतएव मैं उसके इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता ।

पुराणों, उपपुराणों, उपनिषदों को अतिक्रमण करती हुई हमारी कहानी आज जिस स्तर पर है, उसे देखकर हमारा हृदय अवश्य पुलकित हो सकता है । आज विश्व-साहित्य में कहानी का स्थान निस्संदेह गौण नहीं रह गया है । सच पूछिए, तो आज का युग कहानी का है और कोई भी जागरूक साहित्यकार कथा-साहित्य की अवहेलना नहीं कर सकता ।

कहानी-कला भारत के लिए नवीन नहीं है । 'पंचतन्त्र' की कहानियाँ पाँचवीं शताब्दी की हैं । इसके हजारों वर्ष पूर्व भी हमारे आचार्य इस कला में पारंगत थे । युग और धर्म की छाप लेकर कहानी सतन् प्रगतिशील रही । चूँकि इसमें बौद्धिकता की कमी नहीं है, इस कारण कहानी भावुकता की धारा में पड़कर पथभ्रष्ट नहीं हुई । और आज जो हमारी कहानी की रूपरेखा है, उसपर निस्संदेह पश्चिम की कला ने अपना प्रभाव दिखलाया है ।

आज का युग तो आपके सामने है । आरम्भ में हिन्दी का कथा-साहित्य बँगला और अँग्रेजी की चमक में पड़ा । बाद में पाठकों को 'सरस्वती' और 'इन्दु' द्वारा मौलिक कहानियाँ मिलीं । तिलस्मी, ऐय्यारी और वर्णनात्मक कहानियों से पाठक का जी ऊब गया । ऐसे ही समय कुछ ऐसे तरुण आए जो जीवन को नए दृष्टिकोण से देखने के पक्षपाती थे । 'प्रसाद', 'प्रेमचन्द', और 'सुदर्शन' इन तरुणों में मुख्य थे । उर्दू की चलती कलम को दायीं ओर से लिखने का प्रयास मुँशी धनपतराय ने किया और देखते-ही-देखते उनकी कलम सब से आगे निकल गई ।

आज की कहानी में विभिन्न धाराएँ काम कर रही हैं। जीवन की कुरूपता के प्रति हम अधिक जागरूक हैं। मार्क्स और फ्रायड की छाप हमारे साहित्य पर स्पष्ट है। प्रेमचंदजी ने अपने अंतिम दिनों में 'कफन' लिखकर एक युगान्तर ला दिया। आज 'कफन' की प्रेरणा से हमारा स्वस्थ साहित्य निर्मित हो रहा है।

जीवन की छोटी-सी-छोटी घटना आज की कहानी को आकर्षित करती है। समाज का सब से निम्न स्तर आज साहित्य का सिरमौर हो रहा है। हमारी दृष्टि जीवन के यथार्थ पहलू को देखने में कुंठित नहीं होती।

आज की कहानी में, जैनेन्द्र नारी के हृदय का विश्लेषण करते हैं। 'अज्ञेय' अपनी गति देते हैं; 'पहाड़ी' मध्यवर्ग की असफलता रोमांटिक रूप में रखते हैं; यशपाल तो सच्चे अर्थ में 'क्रान्ति' ला रहे हैं !

कहानी हमें प्रिय है चूँकि हमारी जिन्दगी भी तो एक कहानी ही है ! कहानी और जीवन पर्याय है। एक अच्छी कहानी कभी पुरातन नहीं होती; वह चिर नवीन है !

स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' की दो पंक्तियाँ कहानी की कितनी अच्छी परिचायिका हो सकती हैं :—

'युग-युगान्तर हते तूमि शुधू विश्वेर प्रेयसी ।

हे अपूर्व शोभना उर्वशी !'†

अपनी इन कहानियों के सम्बन्ध में मुझे अधिक नहीं कहना है। ये स्वयं अपना परिचय देंगी। किन्तु इतना कहूँगा कि इन कहानियों में भावना के साथ-साथ मैंने अपनी चेतना का स्वर भी देने का प्रयास किया है।

विनीत

राधाकृष्णप्रसाद

†युग-युग से तुम विश्व की प्रेयसी मात्र रही हो, हे अपूर्व सुन्दरी उर्वशी !

[“आदि और अन्त” तथा “टूटती कड़ियाँ” की शैली, घटना भाषा, कथा-वस्तु और प्रगतिशीलता संतोषजनक है। आपका महान् भविष्य आगे खड़ा है। उसके पास पहुँच कर जब आप शिखर पर खड़ा हो पीछे की ओर निहारेंगे तब अपनी ही चीजों को देखकर मुस्कराएँगे। वह सुदिन आपकी प्रतीक्षा में बहुत उत्सुक है। भगवान् आपकी सेवाओं से हिन्दी के साहित्यक्षेत्र को भरपूर करके बिहार की लाली रखें, यही प्रार्थना और शुभकामना है।

—प्रो० शिवपूजन सहाय]

प्रकाशकीय वक्तव्य

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य के गतिशील कलाकारों में श्री राधाकृष्णप्रसाद अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पहली कहानी सन् १९३५ में काशी की ‘इन्दु’ में छपी। इन दस वर्षों के बीच, आपकी लगभग दो सौ रचनाएँ हिन्दी की सम्मानित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। साधना और मनन के साथ साथ जीवन के तीव्र संघर्षों ने इनकी कहानी-कला में एक गति प्रदान की है।

पटना विश्वविद्यालय की बी० ए० ऑनर्स (हिन्दी) की परीक्षा में आपका स्थान प्रथम रहा था। अब तक आपके पाँच कहानी-संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी पुस्तकों का अच्छा स्वागत हुआ है। माया-प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित आपके सामाजिक उपन्यास ‘आदि और अन्त’ का तीन महीने में ही पहला संस्करण समाप्त हो गया।

विश्वास है, प्रस्तुत पुस्तक भी पाठकों द्वारा पसन्द की जायगी।

अनुक्रम

कहानी	पृष्ठ
१ मोड़ ...	१
२ छलना का आवरण ...	७
३ आत्म-प्रवंचना ...	२०
४ महाप्रस्थान ...	२६
५ कटे पंख ...	४३
६ गति और भावुकता ...	४६
७ राही ...	५८
८ दुर्घटना ...	६४
९ बालू की भीत ...	७२
१० असमर्थता ...	८२
११ मरुस्थल के मध्य से ...	९२
१२ सिगरेट की राख ...	९७
१३ स्थूल का विश्लेषण ...	१०६
१४ स्वर्ग और नरक ...	१२०
१५ कुरूप छाया ...	१२७

लेखराज को

प्रिय साथी,

देवी कला गुप्त को खोकर तुम अत्यन्त अवसन्न हो । तुम्हारी कला पर मेरे अन्तर ने श्रद्धा के फूल चढ़ाये हैं । कला की स्मृति स्थायी हो, अतः अपनी यह नई पुस्तक तुम्हें समर्पित कर अनुरोध करता हूँ कि अपनी गति को अक्षुण्ण रहने दो । तुम्हारी गति ही कला की स्मृति और प्रेरणा को सजग रखने में समर्थ हो, इस कामना के साथ :

अभिन्न

रा. कृ. प्र.

मोड़

उन्तीस दिनों की लम्बी बीमारी के बाद आज गुलशन ने आईने में अपना मुँह देखा। देखकर वह सिहर गई। चेहरे में शायद खून की एक बूँद न थी। भुर्रियों ने सारे चेहरे को विकृत कर रक्खा था।

एक दीर्घ साँस लेकर गुलशन चुप रह गई। उसकी मौन, उदास आँखों में कुछ तरलता आई जिसे बड़ी तेजी से उसने पुपट्टे से पोंछ डाला। वह अपनी दुर्बलता से डर गई थी।

गुलशन ने सोचा—यदि मौत उसे अपनी दामन में छिपा लेती तो उसका क्या बिगड़ जाता? इस लम्बी बीमारी ने उसके बचे-बचूचे रूप को भी बड़ी निर्दयता से छीन लिया है। अब उसके पास रह ही क्या गया है? रूप के बाजार में जब वह सौदा बेचती है तो बेचने के लिए माल चाहिए ही। यहाँ दूकान ही खाली है। ग्राहक किस उम्मीद में टिकेगा?

पैंतीसवाँ साल !...हाँ, यह उसकी जिन्दगी का पैंतीसवाँ साल है। इस पैंतीस साल की उम्र में उसने क्या नहीं खोया, क्या नहीं पाया?

आईने को काँपते हाथों से पलँग पर रखकर वह सजल

नेत्रों से अपने कमरे के अस्त-व्यस्त सामानों की ओर देखने लगी। इस दर्पण में ही मानों उसने अपना सारा अतीत पढ़ लिया है। उन दिनों की मीठी याद आँखों में खारे आँसू लाती है।

कभी वह पन्द्रह साल की थी और उसके रूप पर परवानों का समूह उमड़ता था.....। आज वह पैंतीस की है और शायद ही कोई भूला-भटका जीव इधर आ निकलता है !

आज गुलशन के पास बचा ही क्या है ? बीमारी में सोने की अँगूठी भी (जो आखिरी पूँजी थी) बिक गई ! कर्ज लेकर दवा होती रही। हकीम साहब के काढ़े से जब कोई फायदा न हुआ तो सूट-बूट वाले डाक्टर से छ इन्जेक्शन लेने पड़े।

और गुलशन ने इस बीमारी से तंग आकर खुदा से दामन पसार कर दुआ माँगी थी कि ऐ रहीम ! अब बस करो। क्यों अटका रक्खा है अब ? मेरे जीने का सहारा ही क्या रख छोड़ा है तुमने ? यह तो दोजख की आग है और इमकी लपटें मुझे झुलसा रही हैं। मैं बहुत थक गई हूँ। इस जिन्दगी से बेजार हूँ। मेरे सब्र का अब और इम्तहान मत लो.....। ऐ रहीम ! मुझ पर रहम कर.....।

किन्तु इस जमाने में रहीम भी शायद पैसेवालों की ही पुकारें सुनने में बंधे रहते हैं। फाकाकशों की आवाजें उनके कानों से नहीं टकराती...।

गुलशन ने करवट बदल ली। बुखार चला गया है। कम-

जोरी खूब है। उसकी हालत उस राहगीर की तरह है जो मूसलधार मेह में, अँधेरे जंगल में, पथभ्रष्ट है। एकाएक उसके पैरों से एक जहरीला, खौफनाक साँप टकराता है जिसे बिजली के क्षणिक प्रकाश में देख वह चीखकर चार कदम पीछे हट जाता है। साँप के काटने से तो वह बच गया किन्तु डर की धड़कन से छाती हिल रही है।

गुलशन अपने को ऐसा ही राहगीर मानती है जो दुनिया की तेज और बदबूदार धाराओं के बीच काँप रही है !

पड़ोस के कालू सरदार ने (यद्यपि यह जाति का भंगी है) बड़ी मदद की। इस आदमी के भीतर इन्सानियत है। इस गन्दी दुनिया में इन्सान मुट्ठी भर हैं ; हैवानों की गिनती नहीं ! अभी उस रोज सुना.....कलकत्ते में हजारों आदमी भूख के मारे फुटपाथों पर तड़प-तड़प कर मर गए ! बगल से न जाने कितने 'शरीफ' 'बाबू' और 'रईस' मुँह पर सेंट से तर किया हुआ रुमाल रख तेजी से बढ़ जाते होंगे....!

तो यही दुनिया है। यहाँ आदमी सस्ता है; पैसा महँगा है। पैसा है तो आदमी आदमी है; नहीं तो वह जानवर से भी गया-गुजरा है।

जब गुलशन के पास रूप था, वह सोचती थी, ऐसी अच्छी जिन्दगी से आदमी मायूस क्यों हो उठता है ? तब वह पन्द्रह की थी ; और शहर के नामी-नामी 'शरीफ' उसकी जूतियाँ सीधी करने में फख् समझते थे। और आज.....?

गुलशन के ओठों पर एक करुण मुस्कान खेल गई। आज सब कुछ जा चुका है। आज तो वे 'शरीफ' उसके मुँह की ओर देखना भी पसन्द न करेंगे !....

‘समय की धार कितनी तीखी होती है !’—एक दीर्घ उसॉन खींच कर गुलशन रह गई।

×

×

×

पीले गालों पर सस्ते पाउडर पोत गुलशन छज्जे पर जा बैठी। आज एक महीना बाद छज्जे पर दूकान फैला, वह ग्राहकों की आशा में टकटकी लगाए थी।

‘आखिर बैठे-बैठे कब तक चलेगा’—गुलशन को सोचना पड़ा—‘यह दुनिया पैसों पर है। यहाँ बिना पैसे के जिन्दा नहीं रहा जा सकता। यहाँ तक कि मरने पर भी पैसों की जरूरत पड़ती है....!’

डाक्टर ने मना किया था—‘खूब होशियारी से रहना होगा। तुम्हारी हालत बहुत नाजुक है।’

सुनकर गुलशन मुस्कराई थी। नाजुक हालत !... उसकी हालत मजबूत ही कब रही है ? जिन्दगी में सिवा खोने के और उसे मिला क्या है... ?

जब गुलशन पन्द्रह की थी, वह अपने रूप के नशे में ही बेसुध थी। रुए-पैसों को ठीकरी की तरह ठुकराती। अम्मी थी जो सारे गहने और रुए अपने बक्स में बन्द किए जाती। गुलशन तो अपने भक्तों को लेकर ही दीवानी थी। अपने रूप

की प्रशंसाएँ सुनकर वह थकती न थी बल्कि उसके पैरों के नूपुर और भी जोरों से 'छूम-छन्नन' कर उठते थे। वह हवा की तरह नाचती थी और झरने की तरह खिलखिला पड़ती थी। किन्तु तब वह पन्द्रह की थी...

आज वह पैंतीस की है। अम्मी एक दिन उससे झगड़कर अपने बेटे के साथ बक्स लेकर अलग हट गई। उस समय गुलशन पच्चीस साल की थी। उसकी दस साल की कमाई रिश्ते की वह मौसी बुढ़िया हड़प गई। गुलशन सिर थामकर बैठ गई। सोचा—या अल्ला ! तेरे दरबार में यही इंसान है ?... हाय, मैं भिखारिन हो गई !...

और आज तो वह कंगालिन है। आज उसे कौन भीख देगा ? गुलशन तो आज अपने से ही नफरत करने लगी है...

पैरों की चाप से वह चौंकी। सिर घुमाकर देखा तो दो छोकरे (जो निश्चय ही तेज नशे में थे) उसकी ओर बढ़े आ रहे थे।

गुलशन के हृदय में आशा का एक स्पन्दन हुआ। चार घण्टों की लम्बी प्रतीक्षा के बाद आखिर कोई उसके यहाँ आया तो...

गुलशन का शरीर काफी दुर्बल था। बदबूदार सस्ती बाली पर टिकी हुई देह की बिसात ही कितनी ?...

गुलशन ने ओठों पर मुस्कराहट लाने का असफल प्रयास किया। गले को संयतकर बोली—“आइए...!”

पतले-दुबले छोकरे ने हाथ के फूलों की माला फर्श पर पटक भल्लाकर कहा—“किस बुढ़िया के। यहाँ उठा लाए यार?... यह तो पूरी चुड़ैल है। तुझे मजाक करने को यही जगह थी ?...”

पहला छोकरा पान की पीक दीवार पर थूककर बोला “राम कहो यार ! हम भूल से दूसरे कोठे पर चले आए ! चमेली का कोठा शायद बारीं ओर है।” और वे दोनों सीढ़ियों उतरने लगे। गुलशन पत्थर के समान चुप रह गई। उसके सूखे दिल में सिर्फ दो शब्द नाच रहे थे—‘बुढ़िया’ और ‘चुड़ैल’ !

सामने ही बड़ा आईना टँगा था। सस्ते पाउडर से पुते अपने पीले चेहरे को देख गुलशन मुस्कराई। यह उसकी हार की मुस्कान थी।

एक दिन, जब वह पन्द्रह की थी, इसी दर्पण में उसने जीत की मुस्कान देखी थी।.....

किन्तु, आज वह पन्द्रह की नहीं, पैंतीस की थी। इस हार की मुस्कान में जीवन की सारी ग्लानि पिघल पड़ी थी।

गुलशन लौट कर छज्जे पर आ रही। शायद कोई ग्राहक.....

छलना का आवरण

हम जिस जगह की कहानी कह रहे हैं, वहाँ संध्रान्त और शिक्षित व्यक्ति ही रहते हैं। सफेद बँगले एक ही पंक्ति में खड़े हैं। रात में जब इन बँगलों से बल्ब की रोशनी चमकती है, तो यह स्थल मानों इन्द्रपुरी-सा मुस्करा पड़ता है। फ़ियानो और हारमोनियम के काँपते स्वर वायु में व्याप्त हो जाते हैं; और वयःसन्धि पर खड़ी, सुकुमार, सुन्दरी बालाओं के कल कण्ठ वातावरण को एक स्निग्ध और अलस-तन्द्रा से ढँक लेते हैं। ऐसे स्थल पर आकर मनुष्य जीवन से प्यार करना सीखता है। जीव और जगत की कुरूपताएँ (जो संख्या और शक्ति में अत्यन्त विस्तृत हैं) भूल कर वह अपनी आँखों में एक तरलता भर लेता है।

तो ऐसे ही स्थल के एक बड़े बँगले से हमारी छोटी कहानी का श्रीगणेश होता है। आप कहानी में एक नायिका चाहेंगे— ऐसी नायिका जो अत्यन्त सुन्दर हो; जिसकी आँखें आम की फाँक-सी हों, जिसके अधर अत्यन्त पतले और काँपते हुए हों, जिसकी कान्ति पूनो के चौद को भी परास्त करती हो...।

हमारी कहानी में भी एक नायिका है, किन्तु वह प्रचलित नायिका की प्रतिच्छवि नहीं है। रंग उसका थोड़ा श्याम है

और आयु उसकी २३-२४ वर्ष की है। उसकी आँखें शान्त हैं; चंचलता के स्थान पर एक सूनापन है। वे आँखें बड़ी-बड़ी अवश्य हैं किन्तु वे 'आम की फाँक' की तरह हैं, यह झूठ हम कहानीकार होकर भी नहीं बोल सकते! उसके वस्त्र में कोई तड़क-भड़क नहीं। एक स्वच्छ, सादी साड़ी में वह रहती है। वह एक बारिस्टर की एकमात्र सन्तान है और नाम उसका 'मीरा' है। आप में से कुछ (जो निश्चय ही अधीर पाठक होंगे) इतना परिचय पाकर झल्ला उठेंगे। कहेंगे—'यह कैसा 'कोल्ड' (मन्द) परिचय दिया तुमने, ओ कहानीकार! माना कि वह एक बारिस्टर की कन्या है। किन्तु उसके नाम में रोमाँस कहाँ है! यह तो सत्रहवीं शताब्दी की सूझ है।' जो हो, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे अभी और सुनें। परिचय अभी पूरा कहाँ हुआ है...?

मीरा विधवा है और उसकी गोद में दो साल की एक बच्ची है। पिता शहर के बहुते ही प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। बैंक में इनके कई लम्बे शून्य सुरक्षित हैं। फलतः, कहानीकार गरीबी का अतिरंजित वर्णन देकर इसपर 'प्रगतिशील कहानी' की मुहर लगवाने से वंचित हो जाता है। और अब हमारी कहानी का प्राक्थन समाप्त होता है।

×

×

×

अपनी सारी समर्थता के साथ मीरा ने अपने पति को प्यार किया था। बी० ए० पास होने के साथ ही उन्नीस वर्ष

की आयु में मीरा का ब्याह हुआ और बाईस के अन्त होते-होते वह विधवा हो गई। पति आक्सफोर्ड के ग्रेजुएट थे और कालेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। मीरा ने पति को जिस घने रूप में प्यार किया, प्रतिदान में वैसा ही प्यार पाया भी।

तीन-वर्ष के विवाहित जीवन में मीरा ने अनुभव किया जैसे वह सुख की पराकाष्ठा पर है। सुख की सब से बड़ी चोटी पर खड़ी होकर वह अपने निस्तब्ध अतीत को देखती और तौलती थी। जीवन में क्या कहीं अभाव के लिए स्थान था ? एक पूर्णता, एक व्यापकता सर्वत्र छाई रही और मीरा के अन्तर से सदा सन्तोष की मंकार आती रही।

पति मीरा के रूप पर अवाक् थे। कहते—“मीरा, तुम्हारी हल्की श्यामता ही तो तुम्हारे सौंदर्य को निष्प्रभ नहीं होने देती !”

मीरा कहती—“शेली और कीट्स पढ़ाते-पढ़ाते तुम भी काव्य की भाषा में बोलना सीख गए हो।”

ऐसे पति को पाकर मीरा अपने स्वप्नों में तल्लीन थी। पिता पूछते—“कैसी हो मीरू ? सुखी हो न ?”

मीरा उत्तर देती—“मैं बहुत सुखी हूँ बाबूजी ?”

सुख का समुद्र लहरा रहा था और मीरा अपनी जीवन-नौका को विस्मित, मुग्ध एवं पुलकित होकर देख रही थी.....।

देख ही रही थी कि समुद्र में भयंकर ज्वार आया ; तूफान

उठा, आँधी आई और अपनी सौ-सौ जिह्वाओं द्वारा उस छोटी तरणी को आत्मसात् करने आगे बढ़ी...। मीरा चीख उठी। मौत इतनी भयंकर है, इसकी कल्पना उसे न थी। सिर्फ चार दिन के बुखार में मीरा के पति की मृत्यु हो गई थी। मीरा अपनी आँखों पर विश्वास करना नहीं चाहती थी। वह संज्ञाहीन थी। अचेतन और अवाक् होकर मानों उसकी आँखें पूछ रही थीं—“यह सब क्या सत्य है? यह क्या विश्व-सनीय है?”

x

x

x

जीवन का स्रोत मानों एकाएक ही सूख गया। एकाएक ही भूचाल आया और गगनचुम्बी महल धराशायी हो गया। मीरा ने सोचा—जीवन का सत्य इतना भयंकर हो सकता है?

मीरा के सारे भविष्य पर ही विडम्बना की एक कुरूप छाया छा गई। जीवन का स्वाद अत्यन्त कड़वा लगा। समय काटे नहीं कटता। अवधि का दैत्य मानों पैशाचिक अट्टहास कर रहा था।

एक दिन मीरा ने सुना—उसके पति के स्थान पर जिस व्यक्ति की नियुक्ति हुई है, वह पटने के शंभुशरण जी का लड़का अनिलकुमार ही है।

पिता ने कहा—“मीरू, अनिल हाल ही में विलायत से डिग्री लेकर लौटा है।”

और साथ ही मीरा खो गई थी आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व की

स्मृतियों में...। बचपन के वे क्षण मीरा क्या भूल सकती है...?
...मीरा आठ साल की है। अपने मामा के घर आई है। मामा इञ्जिनियर हैं। गंगा के तट पर उनकी रम्य कोठी है। कुछ दूर हट कर अनिल के पिता का बँगला है, अनिल के पिता सरकारी वकील हैं।

मीरा ने जिस दिन अनिल को देखा तो उसे भुँभलाहट आई थी। १०-११ साल का यह 'सुदर्शन' लड़का गंगा के तट पर बैठकर एकटक उठती हुई लहरों को देख रहा था...एक-टक ! प्रभात हो चुका था और कुछ नौकाएँ गंगा की तरंगों में बही जा रही थीं...! विलायत से लौटे हुए पिता ने उसमें कुछ ऐसे संस्कार दिए थे जिनसे संकोच नामक वस्तु उसके पास फटकने में सदा संकोच करती रही।

मीरा ने पूछा—“तुम्हारा घर कहाँ है ?”

लड़के ने इशारा कर बतला दिया ; किन्तु मुँह से कोई आवाज नहीं निकाली। एकटक, चुप, गंगा की लहरों को देखता रहा।

मीरा ने सोचा—गंगा में क्या है ? सिर्फ पानी ही पानी तो ! बहुत दूर तक (जहाँ तक मीरा की आँखें जा सकीं) केवल पानी ही दृष्टिगोचर होता है और कुछ पाल ताने हुई नौकाएँ....। पूछा—“पढ़ते हो ?”

लड़के ने सिर हिला दिया।

मीरा को उसकी गम्भीर मुद्रा देखकर हँसी आ गई।

बोली—“गूँगे हो ?”

इस बार लड़का अपने को न रोक सका, खिलखिला कर हँस पड़ा। और इस निर्दोष उन्मुक्त एवं स्वस्थ खिलखिलाहट ने इन दो बच्चों को एक सूत्र में बाँध दिया।

परिचय हुआ, घनिष्ठता बढ़ी और वे आपस में इस तरह मिल गए मानों वे आजन्म के साथी रहे हों...। मीरा की कल्पनाओं का राजकुमार मिल गया। मानों इसी राजकुमार के लिये वह इतने दिनों तक, हाथ में जयमाल लेकर, देश-विदेश घूमती रही। और अनिल की रंगीन कल्पना में, जिस पर परियों के देश की कहानियाँ पढ़कर उसने अत्यन्त सुनहला रंग भर दिया था, परी-देश की राजकन्या मानों सात समुन्दर लाँचकर, उसकी पुकार पर दौड़ी आई है !

इन दो बच्चों की घनिष्ठता ने दोनों परिवार में भी घनिष्ठता ला दी। मीरा का अधिक समय अनिल की फुलवारी में ही बीतता। कभी रजनीगन्धा के फूलों की माला तैयार होती; कभी कच्चे अमरुदों की ‘पार्टी’ होती।

एक दिन माँ से (जो उन दिनों मैके में ही थी) सोते समय मीरा बोली—“माँ, आज मैंने अनिल से व्याह कर लिया है।”

माँ ने हँसकर कहा—“कैसे री ?”

अपने स्वर को गंभीर बनाने का असफल प्रयत्न करती हुई मीरा बोली—“जैसे व्याह किया जाता है ! बाजा भी बजा (मुँह का दो आनेवाला हारमोनियम), भोज भी हुआ (अधपके

छलना का आवरण

आम, कच्चे अमरुद और खट्टे बेरों की) और मैंने उसके गले में अपनी माला भी पिन्हाई ! अब वह मेरा दूल्हा हो गया न माँ ?”

माँ ने हँसते हुए कहा—“पर हमलोगों को निमन्त्रण कहाँ दिया, री !”

मीरा ने समझा, माँ को विश्वास नहीं होता, अतः करवट बदल कर चुप हो गई ।

×

×

×

अनिल आया । वह मीरा से भेंट करने आया था । साथ ही बारिस्टर साहब का आम्रह था चाय पीने के लिए ।

मीरा ने अनिल को देखा । देखकर शरीर में एक सिहरन हो गई । बचपन का स्वप्न सामने साकार था ! लड़कपन में वह कुछ दुवृत्ता दीखता था—अब भरा-पूरा, गोरा जवान हो गया था । किन्तु बचपन से उसकी आँखों में रहस्य जानने की जो आकांक्षा मूर्त्त रहती थी, वह ज्यों की त्यों अब भी भाँक रही थी । मीरा ने सोचा—उम्र ने अनिल के अवयवों पर अपनी कूची फेरी, किन्तु उसका मन मानों जैसा-का-तैसा रह गया !

अनिल ने मीरा को देखा । देखकर कुछ चोट आई । यह क्या बचपन की वही राज-कन्या—परीदेश की राजकुमारी मीरा है ? आँखों में एक गंभीर सूनापन । चेहरे पर एक मौन उदासीनता । किन्तु फिर भी अनिल निराश नहीं हुआ । वे ही पतले ओठ...घनी बरौनियों, आकर्षक मुख-मंडल । मीरा की

सुन्दरता मानों अलुण्ण है ।

बारिस्टर साहब ने चाय के प्याले को उठाते हुए मुस्करा कर पूछा—“क्यों जी अनिल, तुम मीरा को नहीं पहचान रहे हो ?”

अनिल की चेतना भंग हुई । कॉपते हाथों से प्याले को उठाकर बोला—“पहचानूँगा क्यों नहीं ? आज का कोई नया परिचय थोड़े है ?”

मीरा ने अपने को संयत करने का प्रयत्न कर पूछा—“चाय में और चीनी दूँ ?”

“जी नहीं !” अनिल ने चौंक कर उत्तर दिया ।

बारिस्टर साहब ने इधर-उधर की बातें छेड़ीं । पिताजी कैसे हैं ?...शादी कब तक करने का विचार है ?...फिर राजनीति पर आकर बातें समाप्त हुईं । हिन्दू-मुस्लिम समस्या...गांधीजी का सत्याग्रह, सरकार का रुख...और बहुत-सी बातें ।

अनिल से मिलकर बारिस्टर साहब को बहुत खुशी हुई । बोले—“तुम इस शहर के लिए नए हो । यदि रोज नहीं तो हर दूसरे-तीसरे दिन आ जाया करो । हमलोग कोई गैर थोड़े हैं ?”

दरवाजे तक पहुँचाने मीरा आई । रास्ते में संकोच के कारण कुछ न कह सकी । अनिल ने ही मुँह खोला—“मीरा, आज कितने वर्षों के बाद तुम से भेंट हुई है ! किन्तु ऐसा लगता है, मानों तुम हमेशा निकट रही हो....”

अँधेरे में अनिल नहीं देख सका कि मीरा के चेहरे पर एक

विचित्र लाली दौड़ गई है

x

x

x

मीरा के भीतर भीषण द्वन्द्व था। नूतन और पुरातन का संघर्ष उसके संस्कारों के बीच प्रज्वलित हो उठा। बचपन का राजकुमार मानों अनेक देशों का पर्यटन कर अन्त में माला लेकर आ पहुँचा है। वह मानों कह रहा है—“राजकुमारी, तुम मुझे भूल गई? मैं तो तुम्हारी ही याद में अपने अवसर खोता रहा। आज जब मैं आया हूँ, तो तुम इतनी उदास क्यों हो?”

और राजकुमारी मानों व्यथा में पीड़ित होकर कहना चाहती है—“कुमार, तुम अब गैर हो! तुम से मेरा क्या नाता रहा?”

कुमार दृढ़ है। वह कहता है—“नहीं, कुमारी! तुम्हारी माला एक दिन मेरे गले पड़ चुकी है। मैं गैर किस दिन हो गया?”

“वह तो लड़कपन का खेल था, कुमार!” राजकुमारी ने एक दीर्घ साँस लेकर कहा।

“किन्तु यही खेल तो मेरे जीवन का सबसे बड़ा खेल बनकर रहा, कुमारी!”

...मीरा ने सोचा—नहीं, चंचल मन को बाँधना ही होगा।

मीरा के लिए युनिवर्सिटी-लाइब्रेरी से अनिल विभिन्न प्रकार की पुस्तकें ला देता है। समय काटने के लिए पुस्तकें सर्वोत्कृष्ट साधन हैं और फिर उन पुस्तकों पर आलोचनाएँ होती हैं।

मीरा की बुद्धि प्रखर है। वह तर्क कर सकती है। जेम्स ज्वायस और आल्डस हक्सले, लारेन्स और शा की पुस्तकें मीरा को पसन्द हैं। अनिल तो इस विषय का प्रोफेसर ही है। किन्तु इन तर्कों के मध्य में प्रीति की एक फल्गु बह रही है। यह फल्गु जहाँ अनिल में नवजीवन-संचार करती है, वहाँ मीरा में सिहरन पैदा कर देती है।

सामाजिक समस्याओं पर भी बातें होती हैं। किन्तु मीरा इन समस्याओं में तर्क को प्रधानता नहीं देती। यहाँ हृदय का साम्राज्य है।

‘भारतीय नारी और उसकी सामाजिक स्थिति’ पर एक दिन मीरा बोली—“भारतीय नारी का विवाह कोई ‘कान्ट्रैक्ट’ नहीं है। यह जीवन-मरण से भी अधिक गम्भीर एक परंपरा है।”

“किन्तु यह परंपरा तो भारतीय नारी का अपमान करती है!” कुंठित होकर अनिल कहता।

“भारतीय नारी के लिए यह अपमान नहीं, वरदान है!” मीरा की ओर से शान्त उत्तर आता।

अनिल सोचता—मीरा क्या उससे दूर रहना चाहती है? क्या यह सच है? नहीं, वह अब और सहन नहीं कर सकता! वह अनिल है। मीरा को स्पष्ट होना ही होगा। आग से वह नहीं खेल सकती।

आज वह मीरा के घर सन्ध्या के कुछ पहले ही पहुँचा।

यह समय बारिस्टर साहब के टहलने का है।

अपने उद्यान में मीरा एक बेंच के निकट खड़ी थी।

अनिल ने पुकारा—“मीरा...?”

मीरा चौंक गई। कुछ विस्मित-सी होकर बोली—“आज बड़े सबेरे चले आए ? यहाँ आकर बैठो।” कहकर उसने बेंच की ओर झुंकेत किया।

चुपचाप दोनों बैठ रहे।

अनिल बोला—“मीरा, तुमसे एक बात कहने की इच्छा बहुत दिनों से हो रही है...।”

मीरा स्वर की गंभीरता समझ चुप रही।

“तुम से साफ कहूँ मीरा...मैं अब तुम्हें इस रूप में देखना नहीं चाहता...मैं तुमसे व्याह करना चाहता हूँ !” अन्तिम बात कहते हुए अनिल का स्वर थोड़ा लड़खड़ा गया।

मीरा के हृदय में किसी ने चाबुक मारा...आवेश में आकर मीरा का हाथ पकड़ अनिल बोला—“तुम मुझे नहीं ठुकरा सकोगी मीरा...ये झूठे संस्कार तुम्हें तोड़ने होंगे...यह भावुकता है। यह...”

अपने हाथ को अनिल के हाथ से छुड़ा कर, मीरा ने रूँधे स्वर से कहा—“अनिल बाबू, आप यहाँ से अभी चले जाइए और कल से यहाँ न आएँ तो अच्छा...”

अनिल हाथ छोड़कर अवाक् मीरा का मुँह देखता रह

गया। मीरा की आँखें बरस रही थीं। अनिल नहीं समझ सका कि यह कैसा रहस्य है ?

वह उठ खड़ा हुआ। चेहरे का खून मानों एकाएक ही सूख गया। एक फीकी मुस्कान अधरों पर लाकर वह बोला—“तुम ऐसा कर सकी मीरा ! तुमने मुझे यह सम्मान दिया ! मैं शायद भ्रम में था....।” अनिल चला गया।

अनिल के चले जाने पर मीरा खूब रोई। पति के फोटो को सामने रखकर वह बहुत देर तक रोती रही। उस रात अन्न का एक दाना भी उसने नहीं ग्रहण किया।

अनिल का कातर मुख अत्यन्त पीड़ा देता रहा। उसने अनिल का अपमान किया था, ऐसा अपमान जो संभवतः मृत्यु से भी अधिक भयावह होता है। किस आवेश में आकर उसने ऐसा किया ?...

दिनभर मन पीड़ित रहा। उदासी आँखों से फूट रही थी। हृदय में सौ बिच्छुओं का डंक था।

संध्या होते ही वह अपने मकान की रेलिंग के निकट जा खड़ी हुई। आँखें किसी को ढूँढ़ती रहीं। किसी की प्रतीक्षा में मन व्याकुल रहा। अनिल आ जाय...शायद आ जाय ! वह अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगेगी—उसके पैरों पड़ेगी...। अनिल, उसके बचपन का स्वप्न ! हाय, क्या उसके मन में अनिल के लिए स्थान नहीं है ...? ओ रे निष्ठुर ! तुम्हें यह कैसे

बताया जाय कि अन्तर में तुम कितनी जगह घेरकर बैठे हो !...

संध्या घनीभूत हो उठी । अनिल नहीं आया । बिजली की रोशनी चहुँओर फैल गई । उसे नहीं आना था, वह नहीं आया... । मीरा खड़ी रही स्थिर, मौन, उदास...

रात भूँगने लगी ; पास ही में डाक्टर मित्रा की बड़ी लड़की मिस शेफाली का स्वर पियानो पर गूँज उठा । रवि ठाकुर रचित अपने प्रिय गीत को वह आज भी गा रही थी—

‘एल ना तो एखनो से एल ना !

आलो-आँधारेर घोरे..... ।’

× × ×

तीसरे दिन मीरा को अपने पिता द्वारा यह खबर मिली कि एकाएक अनिल त्याग-पत्र देकर न जाने कहाँ चला गया !

आत्म-प्रवचना

परिधि से परिवेष्टित विजय आज कुछ अनमना-सा है। यों तो इधर उसके जीवन में एक शुष्कता आ गई है, फिर भी जाने क्यों, उसके मन की आँधी तीव्र हो उठी है। बचना चाहता है वह। संसार भर की फैली अभिलाषाओं में डूब-डूबकर उसने देख लिया है, यह सत्य नहीं और न शिव ही है। भुँभुल्ला उठता है विजय अपनी असमर्थता और परेशानी पर। जीवन में घोर निराशा और व्यथा का भार लेकर वह चल रहा है। चल क्या रहा है, अपने को धोखा देकर भी वह खुश होना चाहता है। किन्तु यह बनावटी खुशी कभी-कभी बड़ी कड़वी लगती है और वह उसे निगल नहीं पाता। आँखें मींचकर वह इस कठोर सत्यरूपी हालाहल को पी लेना चाहता है; किन्तु वह कमजोर है। वह नहीं भुला पाता कि गरल गरल ही है। वह अमृत नहीं हो सकता। और तब एक भारी 'छिः' के साथ वह उस कड़वी वस्तु को थूककर बाहर फेंक देता है। किन्तु तिक्तता फिर भी सारे बदन में व्याप्त ही होकर रहती है।

तो यह विजय अपना रोग दूर नहीं कर पाता। घाव गहरा हो चुका है; भरने की शायद ही गुँजाइश है। घृणा के ढेर को

वह एक बार ही फेंक मानों कहना चाहता है—‘भक्कार दुनिया !’ भावों के स्रोत बंधन तोड़कर वह जाना चाहते हैं और इस अवस्था में खड़ा दुर्बल, क्षीणकाय युवक विजय, पेड़ के पत्ते की तरह काँप उठता है।

वह सोचता है और जानता भी है कि यह उसकी नासमझी है। विजय को मालूम है कि उसकी बेचैनी एक भावुकता के दायरे में आ रही है। वह दृढ़ होना चाहता है। सस्ती भावुकता और रोमांटिक उच्छ्वास अब उसे हास्यास्पद और अपरिपक्व मस्तिष्क की उपज मालूम पड़ता है। वह गंभीरता से सिर हिलाकर अपने को सांत्वना देने की चेष्टा करता है। वह कहना चाहता है—‘विजय, तुम ठोस होने जा रहे हो। ऐसी छिछली कल्पनाओं पर फिसलते रहे तो हो चुका तुम्हारा निस्तार !’

सिगरेट के उठते हुए धुएँ को सूनी आँखों से देखते हुए विजय सोचता है—‘वह एक खेल था, जिसे खत्म होना ही चाहिए था। खेल को गंभीरता के स्थान पर रखने से दोनों का महत्व नष्ट हो जाता है।

.....और यह कला ?

इस शब्द पर आकर उसका गला अटक जाता है। नारी का रूप उसके नयनों के सम्मुख आ खड़ा होता है। उस रूप को कभी उत्सुक हो, कभी चंचल हो और कभी अतिशय उपेक्षा के साथ वह देखने लगता है।

सिगरेट की राख भाड़ कर (दूर उमड़ते हुए मेघों को

देख) विजय सोच रहा है—ऐसी ही एक संध्या थी । उस मट-मैली संध्या में उसने कला को पहली बार देखा था । एक भोंके की तरह आकर वह बिखर गई थी । विजय—तरुण विजय—उस रूप से प्रभावित हुआ था ।

सुधीर ने एकान्त में पूछा—‘कला कैसी लगी, विजय ?’

‘कला ही जैसी !’ विजय का संक्षिप्त उत्तर था । तो कला के भीतर जो उमड़ रहा था, उसे भी विजय पहचान रहा था । उसे लगा था मानों यह नारी अपने भीतर एक तूफान बन्द किए है ।

और विजय कभी मुग्ध होता, कभी अवाक् रह जाता । कला तो शरत् की ‘किरणमयी’-सी प्रखर थी ।

दिन बीत रहे थे । संध्याएँ भाग रही थीं । विजय पा रहा था, वह कला के प्रति झुक रहा है । कभी-कभी जैसे वह चौंक उठता । वह कहाँ जा रहा है ? यह क्या उसके संस्कारों पर एक गहरी चोट नहीं है ?

और एक दुर्घटना ने तो इतिहास ही बदल दिया । सुधीर की अचानक मौत ने जीवन की धारा पलट दी ।

सुधीर मरा, एकाएक ही मरा । लोग कहते, ऐसी मौत दुश्मन भी न मरे । भरी जवानी में सुधीर तीन दिन की बीमारी में मरा ।

कला रोई । जी भरकर रोई । आँखें फूल कर लाल हो चलीं । चेहरे की लाली स्याह हो गई ।

विजय भी रोया । हृदय खोल कर रोया । अपने एकमात्र अभिन्न बन्धु की मौत कम दुःखदायी नहीं लगी ।

समय कुछ और खिसक गया ।

कला जीविका निर्वाह के लिए स्थानीय गर्ल्स-स्कूल में अध्यापिका हुई । शिक्षा का अवलम्ब दो रोटियाँ देने में समर्थ रहा । —

कुछ दिनों तक भेंट नहीं हुई । बाद में संकोच का पर्दा धुँधला पड़ गया । साहित्य, राजनीति और नारी-जागरण की बातें होतीं । कला नई रोशनी की नारी थी; नए वातावरण में पनपी थी । फिर भी संस्कार दुर्बल थे । कला जब चुप हो जाती तो चुप ही रहती । विजय ऐसी स्थिति से ऊब जाता । वह कला की ओर देखता रह जाता । उसके चेहरे की सूनी रेखाओं को पढ़ने का असफल प्रयास करता ।

ऐसी ही एक संध्या थी । चाय का प्याला बढ़ाती हुई कला बोली—‘विजय बाबू, आज मेरे जीवन की एक डोर और कटी.....’ स्वर में व्यथा गूँज कर रह गई ।

‘सत्य भी चला गया !’—स्वर रुँधा था ।

‘मैं कितनी असहाय हो गई हूँ, विजय बाबू !’ कला आखिर हथेलियों में मुँह छिपा सिसक पड़ी ।

और विजय को धीरे-धीरे मालूम हो गया—सत्य कला के जीवन का मेरुदंड था । उसने सत्य को चाहा था । जब

वह किशोरी ही थी, सत्य उसकी कल्पनाओं का आधार बन चुका था।

उस नारी ने हृदय की सारी समर्थता के साथ सत्य को चाहा था।

किन्तु चाह कर भी वह सत्य को नहीं पा सकी। सत्य लापरवाह रहा। कला की व्यथा की गहराई सोचने को उसे अवकाश न था। वह बोला—‘मुझे सिर्फ देश से प्रेम है और इस प्रेम में मैं हिस्सा नहीं कर सकता। मुझे प्यार करना आकाश को मापना है!’

निठुर सत्य पत्थर था, पत्थर ही रहा।

कला सुबकी, खीभी, झुँझलाई और हार कर क्लान्त हो पड़ी। फिर वह सुधीर की ‘पत्नी’ हुई। सुधीर को अपनी पूरी श्रद्धा देने में वह सदा असमर्थ रह गई!

सुधीर ने एक दिन विजय से म्लान स्वर में कहा था—‘विजय, यह कला न जाने क्या छिपाए है! प्रकट नहीं होती। हँसती है तो बनावट साफ मालूम हो जाती है!’

विजय तब कुछ न कह सका था। और आज सत्य की कहानी सुन स्मृति साफ हो गई।

दिन भागते गए। विजय अपने आकर्षण पर और भी रंग भरता गया। एक बार वह अपने को न रोक सका। बोला—‘मैं आज कुछ कहना चाहता हूँ, कला!’

कला की सूनी आँखें उठीं।

‘तुम मुझसे व्याह करोगी ?’ स्वर स्पष्ट और दृढ़ था ।

‘व्याह ?’ कला मानों सिहर गई ।

‘तुम्हारे संस्कार हिल रहे हैं, क्यों ?’ विजय के ओठों पर एक म्लान मुस्कराहट खेल गई ।

कला चुप थी, चुप ही रही । उठकर विजय चला आया ।

दूसरे दिन विजय को एक पत्र मिला । कला की कुछ पंक्तियाँ उस टुकड़े पर पेंसिल से लिखी मिलीं—

‘विजय बाबू, मैं अपनी दुर्बलता से डर गई हूँ । साहस सुन्न है । आपकी आवाज से डर लगता है । मैं खूब रोई हूँ विजय बाबू । यदि मैं ऐसा कर पाती ! मुझे घोर क्लेश है । इसलिए आपसे, इस शहर से विदा ले रही हूँ । मुझे क्षमा कर देंगे—कला ।’

और सिगरेट का कश खींचकर विजय सोचता है—नारी की अभिव्यक्ति क्या कभी एक सीमा में आ सकी है ?

सिगरेट के टुकड़े को भारी बूट से रगड़, वह निर्निमेष दृष्टि से देखता ही रह जाता है ।

महाप्रस्थान

आज मैं, डा० इन्द्रनाथ पी-एच० डी०, आत्महत्या करने जा रहा हूँ ।

आप चौंक गए ? संभवतः आपमें से कुछ परिचित सज्जन पुलिस में फोन करने की बात सोच लें । किन्तु यह सब व्यर्थ होगा । मेरी भरी पिस्तौल मेज पर है और उसी पर मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ ।

आधी रात है । बाहर चाँद की शुभ्र ज्योत्स्ना में सारा संसार सोया है । मैं जाग रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि यह मेरी जिन्दगी की आखिरी रात है ।

मेरी फाउन्टेनपेन मेरे हाथ में है और मैं अपने जीवन की पहली और आखिरी कहानी लिख रहा हूँ । मैंने कहानी कभी नहीं लिखी । पढ़ा भी कम है । मेरा प्रिय विषय अर्थशास्त्र है और मैं सत्रह वर्ष से इस विषय का प्रोफेसर हूँ । मैंने इसमें डॉक्टरेट ली है और देश के अर्थशास्त्र के सम्मानित विद्वानों में लोग मेरी गणना कर दिया करते हैं । अंकों और मुद्राओं की शुष्कता में जीवन की अधिकांश शक्ति व्यय कर मैं आज आत्महत्या कर रहा हूँ ।

मैं भावुक नहीं हूँ । भावुकता जैसी गीली चीज से मेरा

निर्माण नहीं हुआ है। किन्तु फिर भी मैं आदमी हूँ और मेरे भीतर भी हृदय नाम की वस्तु है। आप इसे मेरी कमजोरी कहें या मेरी भावुकता, मैं आत्महत्या करने पर विवश हुआ हूँ।

आत्महत्या आदमी क्षणिक आवेश में करता है। अधिकांश व्यक्ति जो आत्महत्या करते हैं, इसी 'टाइप' के लोग हैं। किन्तु आप सच मानिए, मैं इनसे भिन्न हूँ। मैं काफी सतर्क हूँ और मेरी चेतना पूर्णतया सही रास्ते पर है। मेरा मस्तिष्क और शरीर दोनों स्वस्थ हैं। मैं बिल्कुल होश में, सहज रूप से, अत्यन्त सोचने के उपरान्त इस बात पर आया हूँ।

खिड़की के बाहर की चाँदनी को देख रहा हूँ। पीला चाँद नजर आ रहा है। शहर की जिन्दगी में तारे और चाँद कितने आदमी देखते हैं ? सच मानिए, वर्षों बाद आज मेरी दृष्टि अच्छी तरह चाँद पर पड़ी है और मैं यह सोच रहा हूँ कि इस सृष्टि में चाँद नामक वस्तु भी आकर्षक है।

बहुत देर तक कहीं से पियानो की आवाज आती रही थी। अपने इस छोटे-से बँगले में आज नौ बजे रात से बैठा हूँ और इस समय घड़ी ने एक बजने की सूचना दी है। मैं चार बजे आत्महत्या करूँगा। चार बजे का समय मुझे विशेष प्रिय है, क्योंकि इसके साथ मेरे जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजेडी सन्निहित है। चार बजे की सुबह में मैंने रंभा को पाया था और चार बजे की सुबह में ही उसे खो देना पड़ा। रंभा को लेकर ही मेरे जीवन का सारा तानाबाना है। रंभा ही

मेरे जीवन-पथ की सब से बड़ी समस्या होकर रही। रंभा के लिए मैं जीवित रहा और रंभा के कारण ही आज आत्महत्या कर रहा हूँ।

पहेलियाँ मैं नहीं बुझाऊँगा और न आपकी धैर्य-शक्ति की परीक्षा ही लूँगा। छायावादी कवियों की तरह मैं कोई ऐसी बात आपको नहीं बतलाने जा रहा हूँ जिसे पढ़कर आप सिर खुजलाने लगें। मैं सहज और स्वाभाविक रूप से अपने जीवन-नाटक का पहला अंक उठाता हूँ...

x

x

x

इक्कीस साल की उम्र में अर्थशास्त्र लेकर मैंने एम० ए० किया। प्रथम श्रेणी में मैं प्रथम था। मेरा पिछला 'केरियर' भी इतना ही शानदार था। फलतः मैं स्टेट-स्कॉलरशिप लेकर विदेश गया और तीन वर्षों के बाद विदेशी डिग्री और डॉक्टरेट लेकर स्वदेश लौटा। अबतक मेरी दुनिया पुस्तकों में ही सीमित थी; किन्तु अब मुझे जीवन का नया अध्याय देखने को मिला।

विलायत की छोकरियाँ मुझे न लुभा सकीं। मैं स्वस्थ था, रूपवान था, धनी था और २२-२३ साल का उठता नवजवान था। कई गौरांग तरुणियाँ मेरी ओर प्रणय का संदेश लेकर आईं; किन्तु न जाने क्यों मुझे वे कागज के फूल की नाईं बनावटी लगतीं। उस समय भारत की लड़कियाँ आँखों के सम्मुख नाच जातीं। लज्जा से युक्त, सिमटी, सकुचाई, भाव-भरी, उन भारतीय बालाओं से जब मैं इनकी तुलना

करता तो मेरी छाती गर्व से फूल उठती और एक उपेक्षा भरी निगाह फेंक, मैं चाय के प्याले में अपना मन उलझा लेता ।

भारत आते ही शादी के लिए पैगाम पर पैगाम आने लगे । पिताजी दिल्ली में एक ऊँचे सरकारी पद पर थे । एक हजार के करीब उनका मासिक वेतन था । मैं अपने पिता की इज्जत करता था क्योंकि बचपन में ही माँ को खोकर माता की ममता भी मैंने उन्हींसे पाई । माँ के मरने के बाद, लोगों के लाख कहते रहने पर भी, उन्होंने दूसरा ब्याह नहीं किया । हम दो भाई थे । महेन्द्र मुझसे तीन साल छोटा था ।

फलतः जब पिताजी ने मेरे सामने दिल्ली के अपने एक मित्र की कन्या से विवाह का प्रस्ताव रक्खा, तो मैंने चुपचाप स्वीकार कर लिया । पिताजी के हृदय को किसी भी हालत में दुखाना मैं नहीं चाहता था । और फिर मैं अपने पिता को पहचानता था । वे नए विचार के पिता थे और मेरी भलाई-बुराई का उन्हें सर्वदा ध्यान रहता था ।

रायबहादुर लाला सीताराम कपूर की सबसे छोटी कन्या कुमारी रंभा कपूर, बी० ए० से मेरा ब्याह हो गया । प्रातःकाल चार बजे मैंने काँपते हाथों से रंभा की माँग पर सिंदूर की एक रेखा खींची थी ! रंभा को पाकर मानों मैं संसार का सबसे सुखी प्राणी हो गया । उन्नीस वर्ष की रंभा अपने साथ अतुल रूप के अतिरिक्त बहुत ही सुसंस्कृत हृदय लाई थी ।

रंभा मेरे जीवन का केन्द्र बन गई । मैंने क्या नहीं पाया

था ? रंभा से मैं कहता—“तुम क्या स्वर्ग की श्रापभ्रष्टा रंभा तो नहीं हो ?”

अपनी बड़ी, उदार, प्यारी और रसमयी आँखों को मेरी आँखों में डाल, रंभा कहती—“तुम मुझे अप्सरा का पद देते हो जी ! किन्तु मैं तो मानवी हूँ । किसी क्षण टूट सकती हूँ ।”

रंभा का उत्तर सुनकर मैं कुछ उदास होकर कहता—“छिः रंभा ! ऐसी बात नहीं कहते ।”

उन दिनों रंभा के साथ मैंने गगन के तारों को देखा था; आकाश में लहराते हुए बादलों को देखा था और उन बादलों के बीच शिशु के समान खेलते हुए चाँद को ! प्रत्येक प्रभात मेरे लिए हाथ में कुँकुम लिए आता; प्रत्येक संध्या अपनी काली लटों को बिखेर, मेरे अंतर की शुचिता को, मेरे जीवन के उत्स को, मेरे यौवन के प्रवाह को एक गति प्रदान करती थी ।

मैं कवि के समान भावुक होकर कह उठता—“इस छोटे-से जीवन में इतना सुख भी पाया जा सकता है, रंभा ?”

उत्तर में रंभा की बड़ी आँखें विहँस पड़ती थीं । और इसी धारा में बहकर मैंने लम्बे बारह मास मधुर स्वप्न के समान बिता डाले ।

आज से सोलह-सत्रह साल पहले हिन्दू लड़कियाँ बहुत ही कम संख्या में ग्रेजुएट हो पाती थीं । जो ग्रेजुएट होती भी थीं, उनका अभिमान बहुत आगे रहता था । किन्तु रंभा को अभिमान छू भी नहीं गया था । उसके ओठों पर एक ऐसी

तरल मुस्कान रहती जिसे देख मैं सोचता था— रंभा क्या इस तरह प्रमुदित रह सकती है ?

कभी-कभी महेन्द्र से वह पियानो बजाना सीखती । महेन्द्र ने एक कलाकार का हृदय पाया था । उसके घुँघराले बाल अल्हड़ भाव से उसके ललाट पर छितराए रहते । सुदर्शन महेन्द्र कविताएँ लिखता था । चित्र बनाने में वह कुशल था और उसकी कलात्मक अँगुलियाँ पियानो, वीणा, सितार और बाँसुरी बजाने में अभ्यस्त थीं । वह अँगरेजी के एम० ए० के दूसरे साल में था । उसकी प्रतिभा पर सभी मुग्ध थे और सभीको यह आशा थी कि यह एक दिन साहित्य-जगत् का गौरव होगा ।

कभी रंभा और महेन्द्र किसी कवि की रचना पर तर्क खड़ा करते । रंभा की वाक-पटुता पर मैं चकित था । रंभा के तर्क इतने संयत और अकाट्य होते थे कि मैं सोचता था—इतनी कम उम्र में रंभा का अध्ययन कितना गहरा है !

शेली और कीट्स, गेटे और कालिदास, दाँते और मिल्टन से लेकर आधुनिक युग के बनार्ड शॉ और रवीन्द्रनाथ तक तर्क-तूफान उठता ।

मुझे कभी-कभी लज्जित हो जाना पड़ता, क्योंकि न तो मुझे कालिदास की 'अभिज्ञान शाकुन्तल' या 'मेघदूतम्' का अध्ययन था, न मैंने आधुनिक युग के शा की 'मैन एण्ड सुपरमैन' या रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी कविताओं में ही कभी दिलचस्पी ली थी । मेरा प्रिय विषय अर्थशास्त्र था और मेरी आलमारी की

सैकड़ों किताबें अर्थशास्त्र से भरी थीं। तरुणावस्था में जो कुछ सरस साहित्य पढ़ा था, वह परीक्षा-भवन के बाहर आते ही भूल गया। अब तो शेली या शेक्सपियर पर मुश्किल से मैं आध घंटा बोल सकता था। किन्तु यदि कोई मार्क्स की 'कैपिटल' पर मुझसे बहस करता, तो मैं घंटों उससे बातें कर अपने तर्क द्वारा उसके सिद्धांतों की धजियाँ उड़ा देता।

जो हो, महेन्द्र और रंभा के तर्क में मुझे आनंद आता था। चाय की प्याली हाथ में लेकर मैं वात्सल्य भाव से महेन्द्र की ओर देखा करता। महेन्द्र मेरा अपना छोटा भाई था और मेरी काफी इज्जत करता था।

रंभा छोटी भूरी बिल्ली को अपने नर्म हाथों से पुचकार कर कहती—“कविता यदि सिर्फ भावना है, तो उसका जीवन भी क्षणिक होना चाहिए।”

महेन्द्र अपनी भूल पर लज्जित होकर कहता—“नहीं भाभी, कविता केवल भावना ही नहीं है, वरन् यह एक ऐसा विचार है जिसमें युग बोलता है।”

‘भाभी’ शब्द से न जाने क्यों रंभा का मुख लज्जा से लाल हो उठता। वह अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए बिल्ली को चिकोटी काट लेती, जिससे वह बेचारी ‘भ्याऊँ’ कहकर करुण नेत्रों से अपनी मालकिन की ओर देखने लगती।

रंभा और महेन्द्र को एक दूसरे के साथ इतना घुलते देख कर मुझे प्रसन्नता ही होती। सोचता—बेचारी रंभा आखिर

मुझ से कहाँ तक बातें करे ? मैं कविता और कल्पना की बात बहुत कम कह पाता था । फिर भी मेरे अंतर में रंभा के लिए प्रीति की जो फल्गु थी, वह दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती थी ।

और ऐसे ही समय में एक संध्या को जब हमलोग एक मीटिंग से लौटे, तो रंभा को बुखार आ गया था ।

रात भर बुखार बहुत ही तेज रहा । रंभा का सारा बदन काँप रहा था और आँखें लाल शोले उगल रही थीं । मैं महेन्द्र के साथ रात भर जगा रहा ।

दूसरे दिन बुखार उतरने का कोई लक्षण दिखलाई नहीं पड़ा । डाक्टर ने मुझे एक कोने में बुलाकर कहा—“चेचक निकलने की संभावना है ।”

“चेचक !” मुझे जैसे बिच्छू ने काट खाया । रंभा को क्या चेचक घेरगा ?

रंभा मानवी थी, यह शायद मैं भूल गया था । मैं सोचता था— रंभा तो दुःख से परे की वस्तु है !

किन्तु रंभा ने मानवी का कष्ट भोगा । डाक्टर का कहा सत्य निकला । अनेक अच्छे साधनों के रहते हुए भी रंभा का सारा शरीर चेचक के बड़े-बड़े फोड़ों से भर गया !

रंभा कराहती, छटपटाती और कष्ट में उसाँसे लेती । मैं अपना सिर नोचता—शहर के सभी डाक्टरों को घर पर जमा कर लेता और चिल्लाकर कहता—“डाक्टर, मेरी पत्नी मुझे वापस दीजिए ।” किन्तु यह शायद डाक्टरों से परे की बात

थी। डाक्टर तो निमित्त मात्र हैं। मौत का पंजा डाक्टर के इन्जेक्शन से कहीं शक्तिशाली होता है।

रंभा ने दम तोड़ दिया। मैं पथराई आँखों से देखता रहा। दुनिया ज्यों-की-त्यों कायम रही। चाँद आकाश में बादलों से खेलता रहा; रात अपनी लटें बिखेरती रही। सब कुछ जैसे का तैसा रहा। न रही एक रंभा! इस विशाल समुद्र रूपी विश्व में एक तिनके जैसे प्राणी का अस्तित्व ही कितना ?

मरने के कुछ क्षण पहले वह एक फीकी मुस्कराहट अपने ओठों पर लेकर बोली थी—“मैंने एक दिन कहा था न कि मैं मानवी हूँ। किसी क्षण टूट सकती हूँ। आज लगता है, जैसे वह बेला आ गई है !”

“रंभा”—मेरा गला रुँध गया; आँखों के आँसू उबल पड़े।

“याद रखना—तुम्हारी कुछ सेवा नहीं कर सकी। मैं हिन्दू लड़की हूँ। पुनर्जन्म और भगवान पर विश्वास रखती हूँ। तुम पति से भी ऊँचे हो। तुम जैसे देवता को पाकर भी मैं जिन्दी न रह सकी। अगले जन्म में इसका प्रायश्चित्त करूँगी।”

मैं चुप पत्थर की तरह खड़ा रंभा के फोड़ों द्वारा विकृत मुख को देख रहा था।

“महेन्द्र कहाँ हैं ? एक बार उन्हें भी देखूँगी।”

मैं महेन्द्र के कमरे की ओर झपट कर गया। महेन्द्र बच्चे की तरह तकिए में मुँह छिपा सिसक रहा था। उसकी आँखें

फूलकर लाल हो गई थीं और वह बहुत दुर्बल एवं निष्प्रभ दीख रहा था ।

इशारे से बुलाकर मैं उसे रंभा के पास ले गया ।

उसे देख कर रंभा ने मुस्कराने का करुण प्रयास किया । बोली—“महेन्द्र बाबू, आदमी का चाहना ही तो सब कुछ नहीं है। हम चाह कर पाते कितने हैं ? मैं जा रही हूँ यह देखकर आप रो रहे हैं। किन्तु और दूसरा उपाय क्या है, कहिए ! मैं मरना चाहती थी महेन्द्र बाबू !”

रंभा की अन्तिम बात सुनकर मैं कुछ चौंक गया । तो क्या रंभा अपने जीवन से संतुष्ट न थी ?...किन्तु मेरी भौतिक बुद्धि ने इसे उस समय बीमारी का प्रलाप मान लिया ।

और रंभा चार बजे सुबह में चली गई ।

x

x

x

साधना के पन्द्रह लम्बे वर्ष !—

रंभा की मंजुल स्मृति में मैंने अपने को बसा दिया । दो साल ही रंभा के साथ मैं रह सका, किन्तु ये दो साल मेरे लिए स्मृति के स्तूप बनकर रहे । दूसरी शादी के पैगाम लेकर आनेवाले सज्जनों के साथ मैं बहुत रुखाई के साथ पेश आता । और फिर तो ऐसे सज्जनों का आगमन ही बंद हो गया ।

महेन्द्र रंभा की मृत्यु के बाद एकाएक न जाने कहाँ लापता हो गया । बाद में मालूम हुआ कि चार-पाँच वर्षों तक

संन्यासी रह कर अब वह इलाहाबाद के एक अँग्रेजी अखबार में सहायक-संपादक का काम कर रहा है।

जीवन के दिन बहुत ही शुष्क, नियमित और अनुशासन में मैंने बिताए। फल यह हुआ कि अध्ययन और रिसर्च में ही अपने जीवन की सारी शक्ति मैंने लगा दी। कुछ ही वर्षों में मैं अपने विभाग का अध्यक्ष हो गया और देश-विदेश में मेरी विद्वत्ता की धाक जम गई।

जब मन खाली होता—रंभा के फोटो के निकट जा खड़ा होता। उन उदार, प्यारी आँखों को देखकर मुझमें एक नया बल आता। मेरी आँखों में आँसू आते और हृदय में एक गति। आँसू पोंछकर मैं बुदबुदाता—“रंभा, तुम क्या स्वप्न थी?”

पाँच ताजे गुलाब के फूल रोज रंभा के चरणों के पास रख देता।

और उसके बाद मात्र कर्म। कर्म में ही अपने को डुबो देता। मुझ जैसे कर्मठ प्रोफेसर देश के गौरव हैं, लोग कहते। मैं अपनी प्रशंसाएँ सुनकर मुस्काता। मुस्काता और तेजी से मोटे ग्रंथ के पन्ने उलटने लगता। इस साधना की आहुति में मैंने अपने यौवन के पंद्रह सुनहले स्वप्न दिए।

कभी पचीस का था, आज चालीस पार कर रहा हूँ। किनारे के एक-आध बाल पक गए हैं और चालीस वर्ष में ही लगता है मानों मैं शक्तिहीन हो गया हूँ।

समय की दौड़ में पन्द्रह वर्ष की अवधि कम नहीं होती। दुनिया में कितने देश बने और बिगड़े। जो कल तुतला रहे थे, वे आज स्पीचें झाड़ रहे हैं ! किन्तु सबसे भयानक परिवर्तन मैंने महेन्द्र में पाया। यह प्रतिभाशाली युवक रंभा की मृत्यु के बाद न जाने क्यों पतन की ओर बढ़ता गया। मुझे एक आशंका हुई, क्या महेन्द्र रंभा के इतने निकट आ चुका था ?

महेन्द्र के पतन की कहानी सुनकर दुःख हुआ। सुना, वह खूब शराब पीता है। उसके वेतन के अधिकांश रुपए नाश के तत्वों में खर्च होते हैं। चकित होकर मैंने सोचा—ऐसा क्यों हुआ ?

महेन्द्र की कविताओं का एक संग्रह 'भग्न-गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ था। यह संग्रह रंभा को समर्पित था। कविताएँ मैंने पढ़ने की चेष्टा की किन्तु वे इतनी ऊँची कोटि की थीं कि मैं उन्हें ठीक से समझ नहीं पाया। हाँ, उन गीतों की ध्वनि मुझे अत्यन्त करुण लगी।

पत्रों द्वारा मैं महेन्द्र को समझाता रहा कि वह अच्छे रास्ते पर आए। यह उसे हुआ क्या है !

जवाब में वह लिखता—“भैया, आर्थिक-काट में हूँ। रुपए भेज सको, तो भेज दो। शराब मैं छोड़ नहीं सकता ; कविताएँ लिखूँगा ही।” लाचार हो हर महीने सौ रुपए के करीब मुझे भेजना पड़ता।

एकाएक ही महेन्द्र का तार मुझे मिला कि वह जोरों से बीमार है। भैया को एक बार देखना चाहता है।

मैं दूसरी ट्रेन से इलाहाबाद पहुँच गया ।

जाकर महेन्द्र को देखा, तो अवाकू रह गया । यह क्या वही महेन्द्र था ? चेहरे में संभवतः खून की एक बूँद न थी । शरीर जर्जर था, आँखें धँसी थीं ।

मेरी आँखों में आँसू आ गए । आखिर महेन्द्र मेरा सहोदर था !

डाक्टर को बुलाया । वे निराश होकर बोले—“टी० बी० का आखिरी स्टेज !”

सिर थामकर मैं बैठ रहा । चिल्लाकर बोला—“अभाग ! तूने यह क्या किया ?”

महेन्द्र ने अपने तकिए के नीचे रखी सुन्दर फ्रेम में मड़ी एक तस्वीर निकाली । वह तस्वीर रंभा की थी । महेन्द्र ने काँपते स्वर में कहा—“भैया, रंभा को मैं प्यार करता था !”

तुझे लगा, मानों मेरे पैरों के नीचे से पृथ्वी खिसक रही है ।

“रंभा का प्यार भी मैंने पाया था । रंभा मेरे जीवन के बहुत निकट आ गई थी, भैया !”

मैं और बर्दाश्त न कर सका । चिल्लाकर बोला—“तुम भूठे हो ! रंभा तुझे छोटे भाई की तरह चाहती थी !”

“काश, ऐसा हो सकता !” महेन्द्र एक फीकी मुस्कान के साथ बोला—“भैया, मरते समय क्या छिपाऊँ ? रंभा का तन और मन मैं दोनों पा सका था !”

क्रोध में मैं काँप उठा—“तन ! भूठा.....शैतान !...
रंभा कभी ऐसी न थी ।”

“रंभा को मैं असती कहूँ, तो सबसे बड़ा पापी होऊँगा ।
किन्तु भैया, वह तुम्हें जितना चाहती थी, उतना मुझे भी !”
कहकर महेन्द्र ने पास में पड़े हुए सूटकेस को खींचकर उसमें
से एक नीला लिफाफा मेरे सामने फेंक दिया । लिखावट रंभा
की थी, यह मैं देखते ही पहचान गया । साँस रोककर
मैंने पढ़ा ।

“प्रिय महेन्द्र,

कल आवेश में आकर मैं तुम्हारे वक्तस्थल में सिमट गई
थी । आज उसकी पीड़ा मुझे बार-बार सता रही है । कभी-
कभी सोचती हूँ, तुम्हें प्यार कर क्या मैंने पाप किया ? क्या
दुनिया में एक लड़की दो पुरुषों को समान रूप से प्यार नहीं
कर सकती ? मैं हिन्दू नारी हूँ और मेरे संस्कार बतलाते हैं
कि यह रास्ता गलत है । किन्तु दूसरी ओर मेरे हृदय की
दुर्बलता है । जिससे व्याह किया जाए, उसे छोड़ क्या दूसरे
व्यक्ति के लिए एक विवाहिता लड़की के हृदय में स्थान
नहीं हो सकता ?

बर्नाड शॉ की वे पंक्तियाँ, जिन्हें उन्होंने अपनी एक स्त्री-पात्नी
द्वारा कहलवाई हैं, मुझे बार-बार याद आ रही हैं—“Oh !
how silly the law is ! Why can't I marry them
both ?.....Well, I love them both.”

महेन्द्र, द्रौपदी पाँच पति पाकर भी सती रह सकी थी। यदि मैं अपने हृदय में समान रूप से दो को स्थान दूँ, तो इसमें गंदगी कहाँ है? क्या दुनिया की नैतिकता का यही स्थूल मापदंड है?

तुम और तुम्हारी कला ने मेरे अंतर को स्पर्श किया है। मेरे पति (तुम्हारे भैया) देवता जैसे सज्जन पुरुष हैं। कभी-कभी मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं। हाय, यह मैंने क्या किया? तुम क्यों आकर मेरे हृदय पर छा गए?

महेन्द्र, मैं इस जीवन से ही ऊब उठी हूँ। •समझौता कैसे कर सकूँगी? यह तो रोज की जलन है। दोनों ओर धधकती आग है। मैं किस ओर कदम बढ़ाऊँ?...जहाँ तक हो सके, तुम मुझसे दूर रहो। तुम्हें देखकर मेरी दुर्बलता उभर आती है। मुँह से इतनी बातें नहीं कह सकती थी, अतः लिखकर दे रही हूँ।

तुम्हारी—

रंभा ।”

पत्र मेरे हाथ से छूट पड़ा। मैं वहाँ से भागा। मुझे कुछ भी होश नहीं रहा। मैं यह भूल गया कि मैं एक मृत्यु के मुख में जाते हुए सहोदर भाई के पास आया था.....

कल मुझे अखबार के दफ्तर से तार मिला कि महेन्द्र बाबू की मृत्यु चार बजे सुबह में हो गई।

‘चार बजे सुबह !’...मैं चौंककर अवाक् रह गया ।

✱

✱

✱

और आज मैं चार बजे सुबह की प्रतीक्षा कर रहा हूँ....!
मौत के लिए मेरे हृदय में भय नहीं है । मैं निर्विकार हो गया हूँ । किन्तु रह-रह कर एक बात सोचता हूँ कि रंभा क्या गलत रास्ते-पर थी ?...

आत्महत्या मनुष्य तब करता है जब जीने के सारे साधन जल जाते हैं । आज मैं भी बहुत सूना हूँ । मेरा मन सूना है, हृदय सूना है, घर सूना है ।

मैंने अपनी सारी बसीयत—और साथ में बैंक के ७५ हजार रुपये—एक महिला-विद्यापीठ (जिसकी स्थापना रंभा के नाम पर होगी) खोलने के लिए दान दे दिए हैं । इसमें अनाथ लड़कियाँ निःशुल्क शिक्षा पाएँगी और उन्हें जीने के साधन प्रदान किए जाएँगे ।...

अब मैं मृत्यु के द्वार पर हूँ । चार बजने में चार मिनट हैं । चार मिनट पहले मैं जिन्दा हूँ । मेरे पास स्वस्थ शरीर और प्रौढ़ मस्तिष्क है । चार मिनट बाद मेरा अस्तित्व इस भूतल से उठ जाएगा । पानी के बुलबुले के समान इस विश्वरूपी सागर में अस्तित्वहीन हो जाऊँगा ।

मेरी जिन्दगी में कोई उम्मीद नहीं, कोई सहारा नहीं । मैं सब खो चुका हूँ । यही मेरी मृत्यु का सबसे अच्छा

अवसर है। दस पन्द्रह वर्ष या उससे अधिक मैं और जी सकता था; किन्तु वह तो रोज का मरना होता। इसलिए रोज मरने की अपेक्षा—मैं एकबार मरना पसंद करता हूँ।

पिस्तौल उठा रहा हूँ। कलम रख दी है। आप से विदा चाहता हूँ। घड़ी की सूई चार की ओर बढ़ रही है और मेरी दृढ़ अँगुलियाँ पिस्तौल को कपाल के पास ला रही हैं।

पुलीस को फोन करने का प्रयास मत कीजिएगा। यह व्यर्थ होगा। जब तक आप मेरी इस कहानी को पढ़ना प्रारंभ करेंगे तब तक मैं चिता की राख में मिल गया होऊँगा... चिता की राख, जहाँ एक दिन आप मुझ से मिलेंगे ही !

अच्छा नमस्कार...

कटे पंख

जीवन का सत्य कभी इतने नग्न रूप में सामने आता है कि आँखें उसे सहन नहीं कर पातीं। कल्पना से सत्य जब टकराता है तो कल्पना के पंख क्षत-विक्षत हो जाते हैं। आदमी हताश होकर सोचता है—ओ विधाता ! यह कैसा अभिशाप दिया तुमने...?

बहुत देर तक शिवनाथ को आज उस लड़की की याद आती रही। कर्म-कोलाहलमय वर्षों में जो स्मृति दब गई थी, अवकाश पाते ही जाग गई।

शिवनाथ मध्यम श्रेणी का ऐसा जीव है जो दयनीय कहा जा सकता है। इस विशाल विश्व में एक ५०) मासिक पानेवाले कर्क की सत्ता ही कितनी ? फलतः शिवनाथ एक बेचारा-सा प्राणी है। कभी-कभी उसे स्वयं अपनी हालत पर दया आने लगती है और वह एक विज्ञ दार्शनिक की भाँति मुस्करा भर देता है।

स्थूल रूप से कहा जाए तो कहना पड़ेगा कि शिवनाथ अपने भीतर-बाहर से असंतुष्ट है। व्याह के योग्य दो बहनें, बूढ़ी माँ, उसकी पत्नी और दो छोटे बच्चे !

शिवनाथ कभी-कभी हताश हो उठता है। नहीं...यह

मुझसे नहीं सहा जाएगा...यह सारा जीवन क्या इसी गोरुख-धंधे में बीतेगा ?

अतीत के दिवस स्वप्न-से प्रतीत होते हैं । ऐसा लगता है मानों रात का देखा हुआ यह कोई मीठा स्वप्न रहा हो !...

तब उसके पिता जीवित थे और वह बी० ए० के पहले साल में था । उसके किशोर प्राणों में तब भावनाओं का समुद्र लहराता था । वह तुकबंदियाँ करता था और उन्हें पढ़कर झूम भी उठता था । अपने भविष्य का एक बहुत ही उज्ज्वल चित्र उसने निर्मित किया था । वह कीट्स की कोटि का कवि होगा...चेखोव-सी चुभती कहानियाँ लिखकर अमर होगा...

तब उसका व्याह नहीं हुआ था, किन्तु उसके तरुण हृदय में आनन्द की ज्योति बिखरनेवाली एक लड़की आ गई थी । वह निर्मल थी,—वयःसंधि पर खड़ी, दीप्त, एडवोकेट लाला सीताराम की लड़की । बचपन से उसी मुहल्ले में रहने के कारण वह निर्मला से घुलमिल गया था; किन्तु उम्र के साथ-साथ बंधन की रेखाएँ भी जटिल से जटिलतर होती जा रही थीं ।....

जब वह बी० ए० के पहले साल में था, निर्मला मैट्रिक की परीक्षा देनेवाली थी । 'बस' पर उसे जाते शिवनाथ रोज देखता था । निर्मला उसे देखकर मुस्करा देती थी । एक हल्की लाली उसके गोरे कपोलों पर खिलती और आँखों में एक तरलता तैर जाती । शिवनाथ उसके इस रूप को देखकर कुछ

खोया-सा, कुछ विभ्रम हो, मौन खड़ा रह जाता, और जब 'बम' गर्द उड़ती हुई दूर आँखों से ओझल हो जाती तो उसकी संज्ञा लौट पाती ।

निर्मला उसकी कविताओं की प्रशंसा करती थी । जब कभी थोड़ा मौका मिलता, वे दोनों आपस में मिलकर दो-चार बातें अवश्य कर लेते ।

शिवनाथ ने एक दिन कहा था—“निर्मल, (वह 'निर्मला' के स्थान पर बचपन से उसे 'निर्मल' कहता आया है और निर्मला भी पूरा शिवनाथ न कहकर 'शिव' या 'शिवू' कहा करती थी) अपनी कविताओं का पहला संग्रह मैं तुम्हें समर्पित करूँगा ।”

निर्मला का सारा चेहरा एक अभूतपूर्व प्रसन्नता से दीप्त हो उठा था ।

आज उन बातों की धुँधली याद आती है । जो सत्य बनकर आया, वह इससे एकदम भिन्न था । अगले साल जब पिता की मृत्यु हुई तो उसने पाया कि उसके कर्क पिता उसके लिए कर्ज का एक बोझ ही भर छोड़ गए हैं !

पढ़ना बंद कर देना पड़ा । बी० ए० की डिग्री लेने से वह वंचित रहा ।

और इधर निर्मला का व्याह भी धूमधाम से हो गया । शिवनाथ पिता के श्राद्ध की तैयारियों में व्यस्त था और उधर एडवोकेट लाला सीताराम के यहाँ शहनाई बज रही थी । एक

विषण्ण मन से शिवनाथ ने सब देखा ! समय के हथौड़े ने मानों उसके हृदय की सारी कोमल अनुभूतियों को चूर-चूर कर दिया था ।

एक अंडर-ग्रेजुएट को ४०) की क्लर्की मिल जाए, यह कम सौभाग्य की बात कब है ? आफिस की फाइलों में सड़ांध की गंध थी । वहाँ के क्लर्क एक ही कोटि के जीव थे । वे बिना कारण ही अपने आफिसर की फिड़कियाँ (जिनका दूसरा नाम गालियाँ भी हो सकता है) सुन सकते थे; आफिसर की बेहूदी बातों (जो अश्लील हास्य के लिए होती थीं) पर वे बनावटी खिलखिलाहट भर सकते थे और सलाम तो इतना झुककर करते थे मानों उनकी कमर ही टूट गई हो !

शिवनाथ को लगा जैसे वह एक विचित्र दुनिया में आ गया है । उसका दम घुटता-सा लगा । उसने सोचा—नहीं, यह काम मैं नहीं कर सकूँगा....यह तो आत्महत्या है !

किन्तु इस देश में शिक्षित मध्य-वर्ग इस तरह की आत्म-हत्याएँ रोज करता है, जिन्हें कोई भी अखबार नहीं छापता और न जिनके लिए सरकार की ओर से पुलिस की जाँच ही होती है ।

कीट्स और चेखोव बनने का स्वप्न देखने वाला शिवनाथ ४०) मासिक पर एक क्लर्क बन गया !

कविताओं की कापी दीमक चाट गए और कहानियों की पांडुलिपि गीली लकड़ी को सुलगाने के लिये चूल्हे में भोंक दी गई !

सुबह नौ बजे आफिस की फाइल दाबकर जो वह जाता तो शाम को सात बजे एक मोटी फाइल लेकर वापस लौटता। दस घण्टे के मानसिक श्रम के बाद तीन मील रोज पैदल चलना पड़ता !...समय की ऐसी गति में ही शिवनाथ ने अपने को अभ्यस्त बना लिया !

सदा की भौंति माँ ने व्याह के लिये उसे तंग करना शुरू कर दिया। इसके लिये माँ की आँखों में कभी आँसू आते और कभी रो-धोकर वह उपवास करने बैठ जाती। शिवनाथ ने रोज-रोज की इस किच-किच से तंग आकर एकदिन व्याह के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। फलतः, एक हिन्दू बेटी के बाप का उद्धार हुआ और उसके भावी श्वसुर (जो मिडल स्कूल में एक दीन मास्टर थे) ने तो आनन्द में दो आँसू गिरा दिए !

पत्नी साधारण कोटि की थी। रामायण पढ़ सकती थी और पतिव्रता होने का उसे सहज, सनातन संस्कार प्राप्त था। रूप में वह सांवली थी, किन्तु चेहरे का पानी बुरा न था।

पत्नी को देखकर उसे निर्मला याद आ गई। मन में कुछ धुँआँ इकट्ठा हुआ, किन्तु ओठों द्वारा एक करुण मुस्कान के रूप में वह बाहर भी हो गया।

✕

✕

✕

आज आठ वर्षों के बाद, एकाएक, निर्मला से भेंट हो गई।

फटे जूते को किसी तरह घसीटता, सर्दी में ठिठुरता शिवनाथ आफिस से लौट रहा था। एडवोकेट लाला सीताराम की

कोठी से जब वह गुजरा तो एक मोटर आकर उसकी बगल में खड़ी हो गई।

मोटर से कीमती सूट में लैस एक भव्य युवक उतरा। उसके हाथ में एक स्वस्थ, भोला बच्चा था। उस युवक के पीछे बहुमूल्य शालमें लिपटी जो युवती उतरी उसे देखकर शिवनाथ ठिठक रहा। यह निर्मला थी। अब उसका रूप और भी निखरा लगता था।

...एकाएक ही निर्मला की आँखें शिवनाथ की आँखों से जा टकराईं। साथ ही निर्मला की विहँसती आँखों में अचानक ही व्यथा की तस्वीर उतर आई। उसके कानों के भूमते हुए इयररिंग स्थिर हो रहे।

युवक ने फाटक के भीतर घुसकर स्नेह-भरे शब्दों में कहा—“आओ, चली आओ। रुक क्यों गई?...”

माथे का पल्ला ठीक कर निर्मला आगे बढ़ गई।

*

*

*

शिवनाथ सोच रहा था—निर्मला ने योग्य वर पाया है। उसका पति डिप्टी-कलक्टर के पद पर है और साथ ही व्यक्तित्व कितना प्रखर है...

...निर्मला की आँखों में व्यथा की तस्वीर आई थी...वह क्या उसकी दीन दशा को देखकर द्रवित हुई थी?

फटे जूते में शिवनाथ अपने पैरों की अँगुलियाँ दृढ़ता से जमाकर चलने लगा।

गति और भावुकता

अँगुलियों से अपनी आँखें मींच लेखराज ने सोचा—क्या यह सच है? क्या सचमुच वह इस नग्न सत्य को स्वीकार कर ले?...मान ले, सब शेष हो चुका है?...कल्पना का धनी लेखराज आज शिथिल हो पड़ा है।

दूरतक यह दुनिया फैली है। यह सामने की गंगा अपनी गंभीरता को सतत् जागरूक रख बहती रही है। यह बहती रही है और बहती रहेगी।

लेखराज ने सोचा, यह दुनिया है। दुनिया ऐसी ही होती है। कोई आए, कोई जाए, वह चलती चली है। यह क्रम है, जो टूटता नहीं। झूठी हमदर्दी और नकली आदमीयत आज हमारी जिन्दगी को घेरे बैठी है। लेखराज को लगता है, मानों यह सब कुछ प्रपंच है। धोखे की यह पालिश भीतर से इतनी कुरूप है कि लेखराज को अपनी आँखें बन्द कर लेने की इच्छा होती है।

उसके भीतर की गति उसे सांत्वना देने की चेष्टा करती है—भई, तुम भी व्यर्थ के चक्कर में हो। अजी, यह गोरखधंधा तो लगा ही है। भाग्य ने कब तुम्हारा साथ दिया है? तुम जिस

मृगवृष्णा के पीछे दौड़े, उसका परिणाम तो ऐसा ही कुछ होता...

किन्तु सांत्वना से ऊपर भी कोई चीज है जो लेखराज को निरन्तर मथ रही है। अपने भाग्य की विडम्बना पर रोए या हँसे, वह समझ नहीं पाता।

लेखराज को रोमांटिक वस्तु पर आस्था नहीं। रोमांस और जीवन उसके लिये आपस में पर्यायवाची नहीं, वरन् दो ऐसे विरोधी तत्व रहे, जिनकी भित्ति पर लेखराज आगे बढ़ा। भावुकता के ऊपर उठकर वह अपने को गतिशील देखना चाहता था। उसके तरुण मन के स्तर में एक तरल पदार्थ भी अन्तर्हित है, लेखराज को इसका आंशिक अनुमान भी न था। वह तरल पदार्थ ऊपर उठकर रहा, और लेखराज की सारी गति को तोड़कर उसके जीवन पर इस तरह छा गया कि लेखराज एकबार स्वयं स्तब्ध रह गया।

और, आज तो लेखराज अपने को टूटा पा रहा है। भग्न, क्षत-विक्षत लेखराज अपने भीतर कराहता भर है। ऊपर मुस्कराता है; दोस्तों के अट्टहास में अपनी हँसी (जो निश्चय ही शत प्रति-शत कृत्रिम है) मिलाकर दुनिया को यह दिखलाना चाहता है कि वह भी हँसी में खुशी भर रहा है।

भीतर का असंतोष, भीतर की आग, ऐसी तीव्र है जो उसकी आँखों को झुलसा ही डालती है और अभागा लेखराज सूने में, अँधेरे में, बलपूर्वक रोके हुए आँसू के बाँध को खोल ही

देता है। वे आँसू भरते हैं....भरकर उसके कपोलों से चूकर तकिए को गरम बना देते हैं। लेखराज उन आँसुओं की उष्णता का अनुभव करता है और सोचता है—वाहजी ! कहाँ गई तुम्हारी गतिशीलता ? कहाँ गई तुम्हारी वह प्रवृत्ति ?.....

आज लेखराज के सामने नग्न कुरूपता है....ऐसी कुरूपता, जिसे वह प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल अनुभव कर रहा है। उसे सोचना पड़ता है, खेल समाप्त हो चुका है।

लेखराज कलाकार है। वह कला का निर्माण करता है। यह अनुभूति कभी-कभी उसे 'अहं' की परिधि से भी घेर देती है। किन्तु आज, उसके भीतर का कलाकार निस्पन्द है, नीरव है। सत्य भर है आज लेखराज का 'मनुष्य'। कलाकार की आभा आज क्षीण है। जाग्रत है आज मनुष्य की दुर्बलता।

रोमांटिक रूप से जो मूर्ति उसके जीवन में आई, रोमांस की छाप छोड़कर चली भी गयी। आज कलाकार लेखराज उसी रोमांस की उधेड़बुन में परेशान है। बीते क्षण बेहोशी के थे। आज, जब नशा उतार पर है, तो हल्की खुमारी उसकी गति को और भी अवरुद्ध कर रही है।

रोमांस का इतिहास संक्षिप्त है, अत्यन्त संक्षिप्त। यह शिव न था, किन्तु कितना बड़ा सत्य था ! उस लड़की के सिर पर सिन्दूर की एक रेखा थी। वह रेखा ही एक ऐसी तीव्र चुनौती थी, जो रोमांस को प्रवेश करने से रोकती थी।

किन्तु सत्य कभी-कभी कल्पना से भी अधिक रोमांचकारी

हुआ करता है। लेखराज की भावुकता उभरी। उधर वह लड़की भी अपने अस्तित्व को भूल बैठी। आँखों की भाषा ने इतिहास बदल दिया। दो ऐसे प्राणी मिले, जो समाज की चहारदीवारियों को लॉघकर आगे बढ़े। उनके नेत्रों में नई ज्योति आई, अधरों पर नई रेखा उमड़ी।

लेखराज का विद्रोह युग का प्रतीक था। वह अपने विवाहित-जीवन को पूरी श्रद्धा के साथ नहीं निभा सका। उसने अपनी पत्नी से कहा—“रानी, तुम मुझे पूजती हो। यदि मैं तुम्हें अपनी पूरी निष्ठा नहीं दे सकूँ, तो तुम्हें दुःख होगा न?”

उसकी पत्नी सजल आँखों से उसे देखती रह गई। कुछ क्षणों के बाद स्नान मुस्कराहट ले बोली, “तुम मेरे देवता ही हो। हाँ, हँसने-बोलने वाला देवता अब पत्थर का देवता होगा... किन्तु मेरी पूजा के फूल कभी नहीं मुरझायेगे।”

लेखराज के हृदय में बात चुभी, किन्तु वह लाचार था। जो वस्तु है नहीं, उसका झूठा प्रदर्शन करना वह नहीं जानता। आत्मप्रवंचना से उसे घृणा है।

और इसी अन्तर्द्वन्द्व के बीच लेखराज ने एक ऐसी छाया पा ली, जो उसकी कल्पना द्वारा निर्मित थी।

हर्ष, पुलक और विस्मय के साथ लेखराज आगे बढ़ गया। कलाकार लेखराज ने सोचा—उसके जीवन की गति में जो एक ‘डेडलॉक’ आ गया था, वह अब दूर होकर ही रहेगा।

कला (यही उस लड़की का नाम था) बोली—“हम क्या सचमुच आग से नहीं खेल रहे हैं ? हमारे लिये क्या यह अच्छा है ? तुम.....?”

लेखराज मुस्कराया । बोला—“तुम मुझपर सन्देह कर रही हो, कला ?”

उस लड़की की आँखों में आँसू उमड़ आए । बोली—“तुम्हें देखकर ही तो यह लगता है कि जीवन में भी कोई अवलम्ब है ।”

कला आँचल से आँसू पोछ कर चली गई थी । अभागिनी थी वह ! पाया कुछ उसने भी कहाँ था ? लेखराज की तरह वह भी खोती ही रंही थी । जिन्दगी में उसे मिली थी मात्र अवहेलना । सिन्दूर की रेखा तो उसके अभाव का उद्दीपन विभाव भर थी ।

एक दिन कला किंचित् म्लान मुस्कराहट लिये बोली—“अब तो ऊब उठी हूँ इस जिन्दगी से । तुम मुझे याद रखोगे ?”

लेखराज अवाक् रह गया । वह बोल भर सका—
“क्या कह रही हो, कला ?”

लड़की ने उसी स्वर में उत्तर दिया—“जो कहती हूँ, ठीक ही कहती हूँ । मुझे आभास मिल रहा है ।”

लेखराज अठारह साल की उस दुबली-पतली और सुन्दर लड़की के चेहरे की ओर देखता रह गया ।

उसी संध्या को वह पति के साथ कहीं दूर चली गई । रात

में डायरी लिखते हुए लेखराज ने कवि बायरन की निम्न पंक्तियाँ लिखी :—“When we two parted

in silence and tears,
Half broken-hearted
To sever for years,
Pale grew thy cheek and Cold,
Colder thy Kiss...

कला के जाने के बाद लेखराज जड़-सा हो गया। उसे लगा, मानों उसकी गति फिर रुक रही है। अपने को सँभालकर उसने मन को समझाया। कला से जब चाहे वह भेंट कर सकता है। कुछ ही घंटे तो लगेंगे !

उसकी मीठी याद में वह रहने लगा। कलाकार लेखराज की कला में वह कला मूर्त हो उठती थी। साहित्य-संसार के समालोचकों ने लिखा—“लेखराज हमारे साहित्य का गौरव है। उसकी रचनाएँ एक नई दिशा की ओर संकेत करती हैं। कलाकार लेखराज अभिनन्दनीय है।”

लेखराज इन आलोचनाओं को पढ़कर मुस्करा ही रहा था कि उसे एक कार्ड मिला। उसमें कला की मृत्यु की खबर थी। इसे कला की एक सखी ने लिखा था, जिसे संभवतः वह अपनी दुर्बलता की कहानी सुना गई थी।

लेखराज ने रोना चाहा किन्तु रो न सका। उसने हँसना ही चाहा किन्तु हँस भी न सका।

सिर्फ एक ही बात उसके हृदय और मस्तिष्क में गूँज

गई...। कला अब नहीं है! अब वह कला को कभी नहीं देख सकेगा !

रात भर वह सो नहीं सका । आँखें फाड़-फाड़कर अँधेरे में कुछ ढूँढ़ता रहा । दूसरी सुबह उसने सोचा—वह ‘गीता’ पढ़ेगा । गीता खोलकर वह पढ़ने लगा :—

“ जातस्य ही ध्रुवा मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि

किन्तु गीता पढ़ते समय आँसू दुलक गए । वैरागी बनने के बदले वह अनुरागी बन गया । कला की पहली छवि (जो हँसी बिखेर रही थी) उसे अक्षरों के बीच नजर आने लगी ।

गीता फेंक कर वह उठ खड़ा हुआ । कमरे में जोर-जोर से चहलकदमी करने लगा । दो-तीन बार दीवार से टकराया भी ।

मुट्ठी बाँध कर लेखराज ने सोचा : वह भी मरेगा । उसके जीवन में है ही क्या ? मृत्यु इससे बुरी चीज नहीं है । रवीन्द्रनाथ के गीत की एक लड़ी उसे याद आ गई । वह गुनगुनाने लगा :—

‘मिलन हवे तोमार साथे,

ऐकइ शुभ्र दृष्टिपाते

जीवन बधू हवे तोमार नित्य अनूगता

मरण, आमार मरण,

तूमि कओ आमारे कथा...’

इसी समय उसकी पत्नी ने भीतर आकर कहा—“अर्जी, तुम्हें हुआ क्या है ?”

लेखराज ने अपनी पूरी आँखें उसके मुख पर गड़ा दीं। पत्नी का भोलापन देखकर वह हताश हो गया। उच्छ्वास फेंककर उसने सोचा—“नहीं, मैं नहीं मर सकता ! मुझे मरने का भी अधिकार नहीं !”

पत्नी ने स्वर में भय और आश्चर्य मिलाकर पूछा—“सुनो तो, कहाँ जा रहे हो ?”

“कहीं नहीं।” कहकर वह बाहर निकल गया।

x

x

x

गंगा का तट। बेंचें पड़ी हैं। एक बेंच पर बैठ आँगुलियों से अपनी आँखें मींच लेखराज सोच रहा है—क्या यह सच है ? वह आज भावुकता के उस स्तर पर आ पहुँचा है, जहाँ निराशा और अंधकार के सिवा कुछ है ही नहीं !

लेखराज ने सोचा, दुनिया में बहुत सी समस्याएँ हैं, बहुत-से प्रश्न हैं। घोर अकाल है। हाहाकार और कुत्सित मनुष्यता ही चारों ओर दिखलाई पड़ती है। आदमी आदमी को निगल रहा है; आदमी आदमी को भूँज रहा है। क्यों न जीवित रहकर अपनी गति द्वारा वह मनुष्यता की कुछ कालिमा धोए ?...

किन्तु लेखराज की भावुकता उसकी गति से अधिक तीव्र है। वह एक क्षण भी अपनी भावुकता को नहीं भूल पाता। नहीं भूल पाता कि कला अब नहीं है !

आँखें मींचकर लेखराज ने सोचा, यह दुनिया है। दुनिया

ऐसी ही होती है। कोई आए, कोई जाए, यह चलती चली है। यह क्रम है, जो टूटता नहीं...

एक अधेड़ सज्जन टहलते हुए आ निकले। लेखराज के पास में बैठते हुए बोले—“क्यों साहब, ‘सीन’ तो बड़ा लाजवाब है !”

गोधूली की अरुण किरणें गंगा के गम्भीर जल पर नाच रही थीं। अधेड़ महाशय का आशय संभवतः इसी ‘सीन’ की ओर था।

लेखराज चुप रहा।

छड़ी घुमाते हुए अपरिचित सज्जन बोले—“लड़ाई का क्या हाल है साहब ? चीजें इस कदर मँहगी हो रही हैं कि क्या बतलाएँ ? सुना है कि जापान.....।”

बिना एक शब्द बोले लेखराज उठ खड़ा हुआ और तेजी से आगे बढ़ गया।

अधेड़ सज्जन अवाक् होकर उसे देखते रहे; फिर उनके चेहरे पर घृणा की कुछ शिकनें पड़ीं। शायद वे सोच रहे हों—“कैसा ‘ब्रूट’ है !”

राही

यथार्थ का तीखा सत्य इतना कड़वा होता है कि मन-प्राण में उबकाई आने लगती है। यह सारी बुनियाद, यह सारा ढाँचा एक खोखला भर दीखता है। लेखराज ने कला को खोकर सोचा था—वह अपने जीवन के मेरुदण्ड को झुकने न देगा। वह अपने भीतर एक ऐसी शक्ति का सृजन करेगा, जो उसकी गति में अमरत्व प्रदान करेगा।

किन्तु लेखराज को तब अवाक् रह जाना पड़ा, जब उसने पाया कि उसकी सारी अनुभूतियाँ, उसकी सतत् जागरूकता एक विडम्बना होकर रह गई है ! लेखराज को 'आदमी' से घृणा होने लगी। अपने चिन्तन के क्षणों में कलाकार लेखराज ने सोचा, मानव से घृणाकर वह मानवता को क्या दे सकेगा ?

उसकी सारी शक्ति कुण्ठित तब हो उठी, जब वह पाता कि 'कला' उसकी सारी चेतना पर खड़ी मुस्करा रही है। विचित्र, असंयत, निष्प्रभ लेखराज चिल्ला उठता—“कला... ..ओ कला ?”

और कला की मूर्ति मानों स्मित हास्य से प्रज्वलित हो उठती। मानों वह कहती—“हार गए न बाजी ! देखो जी, मैं तो छोड़ आई उस लोक को !”

आँखें मींचकर लेखराज सोचता—कला क्या सत्य नहीं कह रही है ? उसके भीतर का पुरुष बाहर आकर कहता—“लेखराज, तुम भावुकता के स्तर से ऊपर नहीं उठोगे ? पागल, तुम्हारी भावुकता तुम्हारा सर्वनाश कर देगी ।”

लेखराज का कलाकार उसे धिक्कारता—“तुम ऐसे क्यों हुए जा रहे हो, लेखराज ? तुम्हारी कला कुण्ठित हो चली है । एक ‘कला’ को खोकर तुम दूसरी को भी खो देने पर हो !”

एक दीर्घ उसाँस छोड़, लेखराज कराह उठता । उसे लगता, मानों अब एक डेग भी वह नहीं चल सकता । सिगरेट का धुँआ शून्य में चक्कर मार विलीन हो जाता । जोर का एक कश खींच लेखराज सोचता—“अभी जीवन की ‘मंजिल’ दूर है ! उसे चलना ही होगा । बोझ कम भारी नहीं है । पीठ की हड्डियाँ निकल आई हैं, किन्तु बोझ है, जो घटने के बजाय बढ़ता है !”

सिगरेट का धुँआ उड़ता है अनियन्त्रित-सा, मानों इसी में उसका अस्तित्व है ! और लेखराज आँखों से अगल-बगल के दृश्य देखता चला जा रहा है मौन ! कलाकार लेखराज अपने भीतर-बाहर एक ऐसा धुँआ पा रहा है, जो उसका दम घोटता-सा लगता है । आदमी की सूरत में हैवान अधिक नजर आते हैं । पैसों को घेरकर आज हमारी सभ्यता और संस्कृति इतनी सीमित हो गई है कि उसकी छाया भी कुरूप दीखती है । आदमी के चेहरे पर यही कुरूप, विनौनी और कुत्सित छाया आज प्रखर है !

उसे लगता है, जैसे यह सब पाखंड है, सब जाल है, सब फरेब। आफिस की कुर्सी छोड़ जब वह बाहर निकला, तो सन्ध्या का मटमैलापन पृथ्वी पर उतर रहा था। चंद चाँदी के टुकड़ों के लिये नरक की दुनिया में रहना होता है। यह कागजी दुनिया मात्र एक विडम्बना ही तो है! आज की यह सारी दुनिया शोषण की भित्ति पर निर्मित है। अकाल और महायुद्ध ...अकाल का दानव सारे देश पर छा गया है। बच्चे तड़प-तड़प कर मरते हैं.....माँ अपने मातृत्व को भूल बैठी है, और एक-दो नहीं, हजारों युवतियाँ अस्मत् बेचने पर मजबूर हुई हैं! यह आज का हमारा सड़ा ढाँचा! ...यह सारा समाज ही गल गया है। आदमी की सारी सूरत आज कुष्ठ से गलित है।

और तब, एक भारी 'छिः' के साथ वह सोचता है—यही है हमारी दुनिया? सभ्यता की दौड़ में हम यहीं तक पहुँच सके हैं?...तब एक करुण, रक्तहीन, उदास नारी-मुख की आकृति मूर्त्त होने लगती है। यह कितना कठोर यथार्थ था...

शहर के उस छोर में वह गया था, जो अपने ऊपर 'संस्कृति' का कोई 'साइन-बोर्ड' नहीं लगाता। वहाँ निम्न श्रेणी की वेश्याएँ रहती हैं। लेखराज उस दिन ऑफिस से लौटती बार अन्यमनस्क-सा, उस ओर निकल आया। जीवन के इस पहलू को देखने की शक्ति वह अपने में बटोरना चाहता था।

एक नारी-मूर्ति; २३—२४ की उम्र। बड़ी, किन्तु बीमार आँखें। पीलापन झलक रहा है। चेहरा भयानक रूप से सादा है। इस घोर जाड़े की संध्या में वह एक भीनी, पुरानी, मैली, बदरंग, रेशमी-साड़ी पहने है, जिससे उसके वक्षस्थल का लटका हुआ अंश बाहर हो पड़ा है! यह सम्भवतः 'काम' (Sex) को चुनौती है! किन्तु हाय, लेखराज के हृदय में एक कैसी हूक उठ गई!

आँखें बचाकर वह आगे निकल जाना चाहता था। किन्तु मूर्ति सामने आ ही गई। रक्तहीन अधरों से मुस्काने का असफल प्रयत्न कर वह बोली—“आओ बाबू!”

और लेखराज की सारी चेतनता मानों जड़ हो गई। डेग उसने तेजी से बढ़ाया, किन्तु वह मूर्ति राह छेककर बोली—“मैं क्या इतनी बुरी हूँ बाबू? आठ आने ही देना...!”

हाथ झटककर लेखराज चिल्लाया—“नहीं...नहीं!”

उत्तर में एक अत्यन्त क्षीण, रुग्ण, थकित आवाज आई—“आज भी उपास करना पड़ेगा, बाबू!”

लेखराज को लगा, मानों किसी ने उसके गाल पर कसकर तमाचा मारा हो। किन्तु वह भागना चाहता था; एक का नोट फेंककर बोला—“हटो, जाने दो।”

चकित होकर लेखराज ने देखा, उस घृणित, कुत्सित, 'वेश्या' नामधारी औरत की बीमार, पीली आँखों से दो छोटी बूँदें चू पड़ी हैं!

....आज, कई दिनों के बाद, उस मूर्ति की जब याद आ रही है, तो मन-प्राण में न जाने एक कैसा सुर, एक कैसी व्यथा छा गई है। कभी-कभी लेखराज चौंकर उस मूर्ति की तुलना 'कला' से करने लगता है। विवशता की छाया में इन दो मूर्तियों का साम्य लेखराज की भावुकता को मथ जाता है।

सिगरेट का अन्तिम कश खींच लेखराज ने सोचा, काल के निष्ठुर हाथों ने कला का इसी तरह अन्त किया होगा !... कला की मूर्ति हँसती नजर आती थी। उसके माथे की लाल, छोटी गोल बिन्दी मानों उसे एकटक देख रही है! उस बिन्दी को वह भूलना चाहता है; उस मूर्ति को अपने हृदय-मन्दिर से हटाना चाहता है। किन्तु अभागा लेखराज कितना असहाय है !

रवि ठाकुर की 'शेषेर कविता' की 'वय्या' मानों कला की प्रतिच्छाया दीखती है। अमित के रूप में मानों वह लावण्य से कह रहा है—“वय्या, आज तुम अपनी शेष बात कविता में कहो।”

और कला-रूपी वय्या की आवाज मानों सुदूर, किसी दूरागत प्रदेश से ध्वनित हो रही है :—

“नाइ पीछे फिरे देखा,

शुधू से मुक्तिर डालीखानि

भरिया दिलाम आजि

आमार महत् मृत्यु आनि।”

और अमित रूपी लेखराज मानों व्यथा में चिल्ला उठता है—“ओ वय्या ! यह तुमने गाया ! फेर लो...हाय, अभी फेर लो अपनी इस कविता को !”

हारकर लेखराज चुप हो जाता है। माथे की नसें दुखने लगती हैं। ओवरकोट की जेब में वह अपनी मुट्ठियों को मजबूत करता है !

*

*

*

पत्नी ने टोका—“तुमने बहुत देर लगा दी जी ! देखो तो, मैं तुम्हारी आहट सुनने के लिए कब से खड़ी हूँ ।”

ओवरकोट उतारते हुए लेखराज ने पत्नी के भोले मुख की ओर देखा। वैसी ही लाल, छोटी, गोल बिन्दी उसके भाल पर भी चमक रही थी। ओठों पर निर्दोष मुस्कान की छाया थी और थी आत्मसमर्पण की प्रखर भावना !

पत्नी के मुख की ओर देख, लेखराज सोच रहा था—‘कला, वह घृणित वेश्या एवं रवि ठाकुर की ‘वय्या’ क्या इसी मुख की प्रतिच्छाया हैं ? क्या ये एक ही धातु से निर्मित हैं ?



दुर्घटना

(१)

अपने चारों ओर के उमड़ते अन्धकार को देख मणि हताश हो उठा। क्या जीवन में वह सन्तोष की साँस न ले सकेगा ? घृणा और उपेक्षा के वातावरण ने उसके दिल के अरमानों को शुष्क बना डाला है। रह गई हैं सिर्फ जली-भुनी कटुताएँ। इस इतने बड़े शहर में जैसे वह टटोल कर भी कुछ नहीं पा रहा है। सहानुभूति की छाया कहीं नजर नहीं आती। इस विराट कोलाहल-भरे नगर से मानवता कहीं मुँह छिपा, दूर जा पड़ी है।

मणि को लगा, जैसे उसका दम घुटा जा रहा हो। अब वह सह नहीं सकता। उसके चलते पैर मानों रुकना चाहते हैं। दूर, जहाँ तक उसने दृष्टि दौड़ाई, केवल मनुष्य नाम की 'वस्तु' नजर आई। वह चाहता था, दूर जा पड़े वह, काफी दूर, जहाँ यह कोलाहल न सुनाई पड़े, यह चीत्कार उसके दिल के पर्दे को न छेद दे।

और ज्यों ही वह मुड़ना चाहता था कि किसी की अँगुलियाँ उसके कन्धे पर पड़ीं।

“तू मणि.....?”

मणि ने देखा, आँखों पर जोर डाला, उसका बाल-बन्धु विमल खड़ा मुस्करा रहा था ।

“तू यहाँ कैसे, मणि ?”

“भाग्य ले लाया, भैया !” लड़खड़ाते गले से मणि बोला ।

“आखिर कैसे ?”

“आया था नौकरी की खोज में.....।”

“नौकरी की खोज में.....क्या हुआ ?”

“नहीं लगी ।” लापरवाही से मणि बोला ।

“चल, ठहरा कहाँ है ?”

“चार दिनों से रेलवे के ‘वेटिंग-रूम’ में सो लेता हूँ ।”

“वेटिंग-रूम में ? अच्छा चल, पीछे बातें होंगी ।”

आश्चर्य के स्वर में विमल बोला ।

और जब मणि की कहानी विमल ने सुनी तब उसने कहा—

“तुझे पाकर बड़ी खुशी हुई । एक साथी का अभाव अखरता था । तू तो जानता ही है, इन्ट्रेन्स में फेल होकर और उसी साल माँ को भी खोकर भाग्य को ढूँढ़ने में निकल पड़ा था । उस बात को आज छ बरस हो रहे हैं । लोहे की गुदाम में किरानी हूँ; साठ मिलते हैं । काम चल जाता है.....चल, तुझे तो मैं अपना छोटा भाई मानता हूँ । तूने वैसा ही प्यार मुझे दिया है.....आज, जब उन दिनों की याद आती है, तब आँखें भरने लगती हैं.....।”

और गली के अन्तिम छोर में, जो छोटा-सा मकान विमल ने

किराये पर ले रक्खा है, उसी में मणि ठहरा है। कोई काम नहीं, कोई काज नहीं। भर दिन खिड़की के पास बैठ, रद्दी अखबारों को पढ़कर समय गुजार देता है। किन्तु दोपहर की बेला में सामने वाले दोतल्ले की छत पर एक गोरी-सी लड़की रोज आ खड़ी होती है...

मणि उसे एकटक देखता है।

सुन्दर है वह। गोरी-गोरी और पतली बाहें भली दीख पड़ती हैं। आँखें बड़ी-बड़ी हैं; भाल पर एक लाल बिंदी किये रहती है। उम्र होगी सत्रह-अठारह साल की।

मणि अपनी सुधबुध खो देता है। उन दस-पन्द्रह मिनटों तक उसकी छाती धड़कने लगती है। पलकें गिरती नहीं, मानों उसे समेट लेना चाहती हैं।

और यह रोज की बात हो चली है। लड़की शायद काम-काज से छुट्टी पाकर दिल बहलाने ऊपर चली आती है और आकाश के मटमैले रंग को देख न जाने क्या-क्या सोचती है...

मणि सोचता है, कैसी विचित्र है यह!

लड़की शायद पढ़ी-लिखी है, तभी तो उसे देख सकुचाती नहीं। और एक दिन जब वह डरते-डरते विमल से पूछ बैठा “भैया, तुम उसे जानते हो?”

“कैसे रे?”

अँगुली उठा, मणि बोला—“उस घर की लड़की को।”

विमल मुस्कराया—“क्यों, मोहित हो गया है क्या?”

शर्म से मणि का चेहरा लाल हो उठा ।

“जानता हूँ रे, बेचारी दुखिया है ।”

“दुखिया ?”

“हाँ, उसकी भी एक कहानी है ।”

मणि मौन रहा ।

“वह दुखिया ही नहीं, अभागिन भी है । उसका पति इंग्लैंड में डाक्टर पढ़ने गया है । आज ढाई वर्ष हो गये, उसने इसके पास एक भी चिट्ठी नहीं लिखी ।”

“यह सब तुम कैसे जान पाए, भैया ?”

“मैं ?” हँसते हुए विमल बोला—“मुझे उसके छोटे भाई से सारी कहानी मालूम हुई । इसी रास्ते वह स्कूल जाता है । अभी कुछ ही दिन हुए, उसके पिता की मृत्यु हो गई थी ।”

“पिता की ?”

“हाँ, उसके पिता वकील थे; अब घर में सिर्फ एक छोटा भाई और माँ है ।”

“किन्तु उसकी ससुराल में तो सब होंगे.....।”

“ससुराल में ?” विमल मुस्कराया—“ससुराल वाले भी उसे नहीं रखना चाहते । कहते हैं, उन्हें धोखा दिया गया ।”

“धोखा ?”

“हाँ, तूने पूरी बात नहीं समझी ! लड़की गूँगी है !”

“क्या !” मणि आँखें फाड़कर देखता रह गया ।

×

×

×

मणि को उस गूँगी किन्तु सुन्दर लड़की से एक तरह मानों सहानुभूति हो गयी। खिड़की के पास बैठ वह रोज दोपहर में उस लड़की को देखता है। देखकर अनेक उलटी-सीधी बातें सोचता है। सोचने का तारतम्य जब गंभीर हो जाता है तो वह स्वयं अपनी नादानी पर हँस पड़ता है। बीड़ी सुलगाकर वह अपने हृदय के धुँए को बाहर के धुँए में मिला देता है।

तो क्या मणि सचमुच उस लड़की के प्रति आकर्षित नहीं है ? एक भिन्नक के साथ वह स्वीकार करता है कि अज्ञात रूप से वह लड़की ही उसके जीवन पर छा गई है ! मणि के हृदय से करुणा की एक हल्की धारा निकल कर उसके चिन्तन-क्रम को आप्लावित कर जाती है।

पाँचवें दिन विमल बोला—“मिठाई खिला, साहब से कहकर तेरी नौकरी मैंने ठीक कर दी। कल साथ चलना। किन्तु देख, खूब कसकर काम लेगा वह !”

मणि के ओठों पर प्रसन्नता की छाया नाच गई। बोला—“तुमने बड़ा उपकार किया, भैया !”

और तब चिन्तन-क्रम में व्याघात हुआ। दिन भर आफिस की कड़ी ड्यूटी कर वह थका-मोँदा लौटता। लड़की को अब बहुत कम देख पाता।

उस रात सारा अंधकार मानों पृथ्वी पर उतर आया था। दिन भी बड़ा मनहूस बीता था। हवा ऐसी तीखी लग रही थी

कि दाँत किटकिटा उठते थे । आकाश में काले बादल तैर रहे थे ।

मणि ने उस रात एक बड़ा अद्भुत स्वप्न देखा था । उसने देखा कि वह सुन्दरी किन्तु गूँगी लड़की एकाएक ही उसके निकट आ गई है ।

मणि की आँखें उसके रूप की प्रखरता से भिलमिला गईं । सौन्दर्य की इतनी प्रखरता उसे कहीं नहीं मिली थी ।

मणि बोला—“हे सुन्दरि ! तुम इस धरातल पर क्यों आई ? तुम्हारा रूप तो उर्वशी के समान है; किन्तु तुम्हारी वाणी मूक क्यों है ?”

लड़की की आँखों में आँसू आ गए । अपनी अभिव्यंजना वह प्रकाशित नहीं कर सकी ।

मणि बोला—“हे रूपसि ! मैं तुम्हें प्यार करता हूँ...तुम्हारी सुनहली केशराशि को चूमने के लिए मेरे अधर फड़क रहे हैं....!”

मणि विह्वल होकर आगे बढ़ा । वह लड़की भय से पीछे हट गई । हाथ से उसने अपनी सिन्दूर-रेखा की ओर संकेत किया, मानों वह कहना चाहती है—नहीं, यह तुम नहीं कर सकते । यह अधिकार सिर्फ मेरे पति को है जो इस समय विलायत में डाक्टरी पढ़ रहे हैं । मुझे छूने का सिर्फ उन्हें ही अधिकार है । वे आयेंगे । मैं उनकी प्रतीक्षा कर रही हूँ । मेरे पास वाणी नहीं है किन्तु हृदय तो है ! मेरा हृदय ही मेरी

वाणी है। क्या मेरी आँखों में वह वाणी नहीं उतर आती ?
क्या उस वाणी को तुम नहीं सुन सकते ?...

किन्तु मणि की सुप्त भावनाएँ जाग पड़ी थीं। वह इस लड़की की केशराशि से अपने ओठों का स्पर्श कराने के लिए व्याकुल था ।

विह्वल होकर ही वह दौड़ गया और उस लड़की को अपनी भुजाओं में बाँध उसकी केशराशि पर अपने गर्म, काँपते ओठ उसने रख दिए ।

लड़की का सारा चेहरा आग के समान जल उठा। सारी शक्ति के साथ उसने मणि को चट्टान के पास ठेल दिया। मणि का सिर पत्थर से टकरा कर फट गया। उसमें से गर्म खून की धारा बह गई और बहकर उसके गर्म, काँपते ओठों को लाल बना गई !

अपने फड़कते लाल ओठों से मणि बोला—“देवि ! मैं धन्य हुआ !”...

x

x

x

सुबह विमल उसे झुकझोर रहा था—“अरे मणि, क्या बुदबुदा रहा है तू ?...उठ...मुहल्ले में एक दुर्घटना हो गई !”

उनींदी आँखों को मलता मणि बोला—“दुर्घटना... कैसी दुर्घटना ?”

विमल ने उत्तर दिया—“कल रात उस गूँगी लड़की ने आत्महत्या कर ली ! सुना, उसका पति कल ही विलायत से मेम लेकर लौटा है !”

“मेम !” मणि जैसे अबतक स्वप्न-लोक में था !

“हाँ, चलेगा देखने ? पुलिस आई है । भीड़ लगी है । लड़की ने कपड़े में आग लगाकर...चल न, देख आएँ ।”

मणि कुछ क्षणों तक एकटक विमल की ओर देखता रह गया । फिर चादर को तान, फटे हुए स्वर में बोला—“नहीं, तुम हो आओ । मैं नहीं जाऊँगा ।”

बालू की भक्ति

सायकिल के पैडल पर पैरों को अन्यमनस्क-सा घुमाता जय-राज रोज लॉन की बगल से गुजर जाता है। वह जीवन को एक बहुत ही अस्वस्थ ढँग से देखने का अभ्यस्त है। अपने मन में दुनिया के अनेक ताने-बाने सुलभाता है। सुलभाता क्या है, उनमें खुद उलझ कर रह जाता है।

जयराम कविताएँ लिखता है। उसकी कविताओं में निराशा और असन्तोष की भावना अधिक है। 'शेली' उसका प्रिय कवि है और कभी-कभी उसे यह भ्रम होने लगता है कि उसके भीतर शेली की आत्मा कराह रही है।

अँगरेजी एम० ए० का छात्र है वह। २२-२३ की उम्र। पतला-दुबला, कुछ सौवला-सा, किन्तु एक आकर्षक व्यक्तित्व लिए। उसकी आँखें ही उसका व्यक्तित्व प्रकट करती हैं। उन आँखों में कोई चमक न रहने पर भी एक ऐसी तरल वस्तु अन्तर्हित है जो प्रत्येक नये व्यक्ति के भीतर प्रवेश कर जाती है।

जयराम के भीतर-बाहर असन्तोष है। वह सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को प्रश्न की दृष्टि से देखता है। स्वयं उसके आगे जिन्दगी एक उलझन, एक पहेली है। वह माथे पर बल डालकर सोचता है—आखिर इस दुनिया में आने का मतलब क्या है? क्यों

मैं इस पृथ्वी पर आया ? ये जो लाखों करोड़ों आदमी हैं, किसकी प्रेरणा से यहाँ आये हैं ?

‘भगवान’ नामक वस्तु पर उसे आस्था नहीं। एक शब्द में उसे ‘नास्तिक’ भी कहा जा सकता है। किन्तु ज्यामिति की कल्पना की तरह यदि वह मान भी लेता है कि ईश्वर नामक पदार्थ की सत्ता विश्व में है, तो वह हैरान होकर सोचता है कि आखिर उस तथाकथित ‘भगवान’ का इस सृष्टि-सृजन में अभिप्राय क्या रहा ? मात्र एक कौतुक ? बच्चे का एक खेल ? एक मन-बहलाव ? ये जो लाखों करोड़ों आदमी फुटपाथों पर भूखे, नंगे, जीवन की गाड़ी खींचे जा रहे हैं, इसमें कौतुक की क्या बात है ? यह सारा गोरख-धन्धा आखिर है क्या ? आदमी जन्म लेता है, बढ़ता है, शादी कर बच्चे पैदा करता है और पेट भरता हुआ एक दिन बीमारी में सड़कर मर जाता है। दुनिया के प्रत्येक घर में यही किस्सा है !

जयराम का मन विवृष्टि से भर जाता है। लड़कपन में उसे समझाया गया था कि भगवान अनादि हैं, अगम हैं, अगोचर हैं। वेद और पुराण उन्हें नहीं समझ सके फिर एक मामूली आदमी की क्या बिसात ?

यह सारा प्रपंच उसे लुब्ध ही करता रहा। कई व्यक्तियों की शरण में गया किन्तु सभी अपनी विद्वत्ता के ‘अहं’ में उसे यह बतलाते रहे कि यह बात बहुत सूक्ष्म है और उस जैसे तरुण मस्तिष्क में आने लायक नहीं है। जयराम के असन्तोष

की मात्रा तब और बढ़ गई ; धर्म और उसकी मान्यताओं के प्रति उसकी विरक्ति हो गई ।

और इधर जयराज समाजवाद पर बहुत कुछ विश्वास करने लगा है । सच पूछिए, तो वह बौद्धिकता की ओर झुकना चाहता है, किन्तु अपने को वह कम्यूनिस्ट घोषित नहीं करता । प्रदर्शन से उसे चिढ़ है । वह कवि-प्रकृति का व्यक्ति है, इसलिए रोटी की बात ही हमेशा नहीं सोचता ।

जयराज स्वयं अपने को नहीं समझ पाया है कि आखिर वह क्या है ? एक 'सिनिक' ? एक अर्द्ध-पागल ? एक बुद्धिवादी ?.....

जब उसकी चेतना बहुत निम्न श्रेणी में थी, उसका ब्याह हो गया था । हिन्दुस्तान के माँ-बाप अपने बच्चों की शादी के लिये ही अपनी सारी बुद्धि का उपयोग करते हैं । इसलिये जयराज जब 'मैट्रिक' में था और मुश्किल से उसकी उम्र सोलह की होगी—उसके पिता ने उसका ब्याह कर दिया था । पत्नी को देखकर वह हताश हो गया ! लड़कपन से वह कल्पना के राज्य में उड़ता था और परी-देश की कहानियाँ पढ़-सुनकर अपने लिए उसने एक सुन्दरी राजकन्या का निर्माण मस्तिष्क में कर रक्खा था । किन्तु क्या यही राजकन्या थी ? काली, कुरूप, गँवार, अशिक्षिता और फूहड़ ! छोटी आँखें, चिपटी नाक ने कवि-हृदय, सुकुमार जयराज को एक ठेस दी !

गाँव के जीर्ण संस्कारों ने जयराज के जीवन की बलि दे

दी। जयराम के पिता एक छोटे काश्तकार थे और जयराम के श्वसुर एक नामी जमीन्दार। फलतः राजपूती शान और थैली की मोटाई ही जयराम के पिता को लड़की की अपेक्षा अधिक आकर्षित कर सकी।

जयराम समझौता नहीं कर सका। खिन्न होकर चुप रह गया। उसके काल्पनिक-महल पर वास्तविकता की यह एक ऐसी लात थी जो उसके अभ्यन्तर को झकझोर गई। रोमांटिक तत्वों से निर्मित जयराम का कवि-हृदय कुछ व्यथा-भरे गीत लिखने लगा। मैट्रिक कर वह शहर आया और कालेज में दाखिल हो गया। पढ़ने में उसने काफी नामवारी हासिल की थी और स्कालरशिपों के साथ तो वह हमेशा चिपटा रहा।

किन्तु ज्यों-ज्यों ललित-साहित्य में उसकी पैठ हुई, वह एक प्रबल अभाव का अनुभव करने लगा। वह अपनी अज्ञात प्रेयसी को लक्ष्य कर दर्द-भरी कविताएँ लिखने लगा और उसकी कविताएँ हिन्दी की मासिक पत्र-पत्रिकाओं ने सादर प्रकाशित कीं।

और तब जयराम के भीतर यह भावना आई कि वह साधारण आदमी से कुछ ऊपर है। उसका अस्तित्व अलग है और किसी संकुचित दायरे में वह नहीं खप सकता।

सब कुछ होने पर भी जयराम यह चिन्तन करता ही रहा कि उसका जीवन दुःखमय है। कभी-कभी 'हीन-भाव' की ग्रन्थियाँ उसे ग्रस लेतीं। जयराम सायकिल की घन्टी को

दुनदुनाता और अन्यमनस्क होकर पैडल पर पैर फेंककर सोचता—‘यह सारी जिन्दगी ही एक पहेली है !’

×

×

×

किन्तु एकाएक, जयराज के जीवन में एक ज्वार आ गया।

इस ज्वार का कारण था उसके जीवन में सरोज नामक लड़की का प्रवेश। सरोज एकाएक ही आँधी की तरह जयराज की जिन्दगी पर छा गई।

जिस डेरे में वह रहता था, उससे थोड़ी दूर पर ही सरोज के पिता ने एक बंगला किराए पर लिया था। वे दूसरे प्रान्त से एक अच्छे पद पर ट्रान्सफर होकर आए थे। सरोज उनकी बड़ी लड़की थी और इन्टर का कोर्स पढ़ रही थी।

श्री चन्द्रभान सिंह (सरोज के पिता) से जयराज का परिचय कुछ ही दिनों में गाढ़ा हो गया। मध्यस्थ का काम उसके मामा वकील इन्द्रनाथ ने किया।

इन्द्रनाथजी जयराज के मामा थे और उसे पुत्रवत् ही मानते थे। कालेज के प्रथम वर्ष से लेकर एम० ए० के इस आखिरी वर्ष तक वह यहीं रहकर पढ़ पाया था।

एक दिन इन्द्रनाथजी बोले—“जयराज, कल से एकाध घंटा सरोज को अंगरेजी में मदद कर देना। बेचारी का कोर्स बहुत पिछड़ा है और इम्तहान के दो महीने ही बाकी हैं। चन्द्रभानजी मुझसे निवेदन कर गए हैं।”

और इस तरह सरोज उसके जीवन में आ गई। सत्रह

साल की भोली, सुन्दर और कल्पना-सी सुकुमार सरोज को देखकर जयराज का हृदय धड़क उठा।

पढ़ाई शुरू हुई। किन्तु इस पढ़ाई के बीच में दो तरुण, सुकुमार हृदय थे। पढ़ाई का व्यवधान छेदकर प्रणय का पौधा फूटा और चार आँखों के मिलने से एक नए स्पन्दन का उदय हुआ।

सरोज को पाकर जयराज की जड़ता दूर हो गई। वर्षों बाद—स्वाभाविक और स्वस्थ रूप से वह मुस्कराया।

भारतीय लड़कियाँ अपना प्रेम आँखों से ही प्रकट करती हैं। ओठों पर एक युग की लाज जो जमी रहती है, वह यह चिल्लाकर नहीं कहने देती कि मैं तुम्हें चाहती हूँ।

सरोज की आँखों की कोमल भाषा जयराज से छिपी न रही। एक दिन जब पन्ने उलटते हुए जयराज ने मुस्करा कर पूछा—“सरोज, हम दोनों मिल गए न ?”

एक हर्ष मिश्रित लाली सरोज के गोरे कपोलों पर दौड़ गई। उसने आहिस्ते सिर हिला दिया और फिर चुप हो गई।

उस रात जयराज की प्रसन्नता का अन्त नहीं था। बहुत रात जाग कर उसने एक नवीन ढंग की कविता लिखी।

पहले जयराज के गीत टूटे और वेदना से भरे रहते थे। आज जयराज की दृष्टि बदल गई थी। उसने एक ‘जीवन-गीत’ लिखा जिसका भावार्थ था :—

‘ओ कवि ! जीवन में क्या वेदना और टीस मात्र हैं ? जीवन क्या दुःखों का एक स्तूप भर है ? नहीं...आज मैंने जीवन का दूसरा और सत्य रूप देखा है। आज मैंने नूतन मर्म का स्पर्श किया है। आज मैं यह जान पाया हूँ कि जीवन स्वस्थ, उदार और मधुमय है।...यह सारा विश्व सुन्दर है। यह खुला आकाश, ये फैले तारे, यह वधू के समान पीली चीर ओढ़े चाँद, क्या सुन्दर नहीं हैं ?...कवि के वे ही गीत शाश्वत और सत्य नहीं हैं जो उसकी वेदना द्वारा उद्भूत हैं, बल्कि आनन्द की घड़ियों में लिखे हुए गीत उन वेदना भरे गीतों से कहीं अधिक स्वस्थकर हैं।”

‘जीवन-गीत’ की पंक्तियाँ, बहुत देर तक वह गुनगुनाता रहा और उसने यह निश्चय किया कि भविष्य में वह केवल आनन्द के गीत लिखेगा।

×

×

×

अपने दाम्पत्य-जीवन के प्रति उसके हृदय में जो अवसाद का पहाड़ जम गया था, सरोज को पाकर वह कपूर की तरह उड़ गया। किन्तु किसी क्षण वह अपनी विवाहिता पत्नी के प्रति सद्य नहीं हो सका। कुरूप की याद ही उसके सुन्दर मन को म्लान कर देती है। जीवन में कुरूपता को ढोकर आदमी स्वयं अपनी जिन्दगी को कुरूप कर लेता है।

माना कि चुटकी भर सुहाग-सिन्दूर उसकी मांग में किसी दिन वह अपनी नादानी में डाल गया, किन्तु क्या

इसके लिए यह आवश्यक है कि उसे प्यार किया ही जाय ? प्यार क्या ऐसी वस्तु है जो जबर्दस्ती की जा सकती है ? अपनी पत्नी पर वह दया कर सकता है, किन्तु प्रेम नहीं ! प्रेम क्या ऐसी थोथी चीज है कि जहाँ डाल दो जम जाय ! जयराम अपनी पत्नी से घृणा भी नहीं करता किन्तु उसके भाग्य पर उसे तरस अवश्य आती है ।

समाज की यह गीली बनावट दुर्गन्ध से भरी है । जयराम उसकी गन्ध नहीं सह सकता । यह कैसा ढँग है कि दो प्राणियों को एक खूँटे में बाँध दिया जाय, चाहे वे पूरब-पच्छिम क्यों न हों ! हमारे यहाँ ऐसी अनेक बेहूदी बातें हैं जो मरने दम तक नहीं बदल सकतीं ।

जयराम बुद्धिवादी है । वह किसी ऐसी अवैज्ञानिक सीमा से ही घेर कर अपनी जिन्दगी को नहीं ढो सकता ! कुरूपता के लिए उसके हृदय में सिर्फ 'छिः' है ।

फलतः जब अपने अंधकारमय जीवन में उसने सरोज का प्रकाश देखा तो वह हर्ष में खो गया । उसने कल्पना की साकार छवि पाई थी । कविता की आत्मा ने उसके हृदय में अपना स्थान बनाया था ।

जयराम ने प्रथम बार संतोष की आँखों से सृष्टि के वातावरण की ओर देखा.....

किन्तु जयराज संभवतः यह भूल गया था कि आग से अधिक देर तक खेला नहीं जा सकता। वह यह भूल गया था कि दुनिया का जो आवरण है, उस पर कुरूपता के असंख्य कुष्ठ जैसे धब्बे हैं। यह सारी चादर गंदगी से महक रही है....

एक दिन जब सरोज की परीक्षा समाप्त हो गई तो उसके लिए दूसरे महीने ही, बाजे-गाजे के साथ, एक रूपवान युवक शादी की पोशाक में आ पहुँचा।

यह कठोर सत्य भावना के राज्य में रहने वाले जयराज से क्या छिप गया था ?

सरोज ने जब उदास और लड़खड़ाती आवाज में इसकी सूचना दस दिन पहले जयराज को दी तब प्याली से गर्म चाय छलक कर अँगुलियों को जला गई। सरोज ने और भी कहा—
“पिता जी तुम्हारे साथ मेरा व्याह कर देते, पर सुना, तुम्हारी शादी हो चुकी है !”

‘तुम्हारी शादी हो चुकी है !’ ये शब्द जयराज के हृदय में वाण की तरह जा चुभे। वह चुपचाप लौट गया।

x

x

x

और अभी-अभी वह सरोज को उसके पति के साथ स्टेशन पर विदा कर आया। बारात की सारी हलचलें शान्त हो गईं और सरोज का पति सेकेंड क्लास के कंपार्टमेंट में प्रसन्नमुख सबसे विदा मोंग रहा था।

बारात सरोज को लेकर वापस लौट गई। जयराज

अपनी चिरपरिचित सायकिल उठा लॉन की ओर से, पैडल को अन्धमनस्क-सा घुमाता लौट रहा था। रास्ते में एक सायकिल-रिक्शे से जा टकराया। सिर थोड़ा फट गया और उससे खून की एक हल्की धारा बही। चुपचाप जेब से रुमाल निकाल कर उसने बाँध लिया। लोगों के लाख रोकते रहने पर भी वह सायकिल उठा पैडल मारने लगा।

डेरे पर आकर सबसे पहला काम उसने यह किया कि अपनी कविताओं की कापी में से 'जीवन-गीत' को निकाल कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। फिर उसने पेंसिल से कापी की पीठ पर यह लिख दिया कि 'शेली' की बात ही ठीक है। हमारे वे ही गीत अधिक मधुर हैं जो वेदना द्वारा उद्धूत हैं।

खून की कुछ बूँदे जब कापी पर टपकीं तो उसे होश आया कि डाक्टर के यहाँ बेंडेज के लिए जाना है।

वह लौटा। सायकिल के पैडल पर पैर घुमाकर और डाक्टर त्रिपाठी के घर की ओर जाते हुए जयराम ने सोचा—
'यह सारी जिन्दगी ही एक पहेली है !'

असमर्थता

घूँघट में मुँह छिपाये, धड़कते हृदय से, शकुन्तला ने जब अपने पतिगृह में प्रवेश किया, उस समय संध्या हो रही थी। उस संध्या का आकाश सुन्दर न था और एक-दो टिमटिमाते तारे भौंकने लगे थे।

आज वह अपने को असहाय, कातर और निरीह पा रही थी। स्वप्नों के भोंके बिखर गये थे। भावनाओं का जो समुद्र उसके हृदय में लहरा रहा था, आज वह एकाएक रुकता-सा लगा। वह खुलकर रोना चाहती थी; किन्तु एक लज्जा और संकोच उसके मन-प्राण में भर गया था।

“बहू-रानी...?”—एक आवाज आई।

उसका सारा शरीर मानों सिहर उठा। घूँघट की ओट से उसने देखा, स्त्रियों का जमघट है और सभी की उत्सुक आँखें उसी की ओर लगी हैं।

फिर किस तरह रात कटी, सुबह हुई और दिन चढ़ा, यह वह न जान सकी। उसे लगा, जैसे यह एक सपना है, अजीब और दम घुटानेवाला।

धीरे-धीरे रहस्य का पर्दा खुलता गया। उसने अपने पति

को पहचाना—और भी निकट से। देखा, वे यौवन की नदी लॉघ चुके हैं, और वह उनकी दूसरी 'बहू-रानी' है !

अपने पति को सामने पाकर उसका सारा बदन सिहर उठता। हाय ! मेरे स्वप्नों की दुनिया यही है ? यही है मेरी चिरसंचित अभिलाषाओं का साकार चित्र ! वह शिथिल पड़ जाती; उसे ऐसा लगता जैसे वह रास्ता भूल कर, अनजान किसी भयंकर वन-प्रदेश में आ गई है। उसका नारी-हृदय रो पड़ता।

क्या पाया है उसने ? वह खोती ही तो रही। बहुत बचपन में माँ को खोया, फिर एक दिन पिता को भी खोकर अनाथ बन बैठी। और तब वह चाचा के परिवार में पली। पली क्या, किसी तरह दिन बीतते गये। तीखी झिड़कियाँ मिलीं, ढेर घृणा मिली और मिलती रही सदा उपेक्षा। और एक दिन उसने यह भी सुना, उसके लिये एक वर ढूँढ़ लिया गया है।

“मैं अभी पढ़ूँगी...इस साल के बाद ही तो 'मैट्रिक' दूँगी”—उसने आहिस्ते कहा था।

चाची उत्तर सुनकर क्रोध से भर गईं। बोलीं—“तो क्या हमलोगों ने तुम्हारे जन्म भर का ठेका लिया है ? इतना जो कर दिया वही अधिक है। कितनी मुश्किलों के बाद तो यह एक घर मिला। उस पर लाड़ली कहती हैं, 'शादी नहीं

करूँगी' ! आई बड़ी लाट की बेटी ! दुनिया में तू ही तो एक पढ़ी-लिखी पंडिताइन है न...!"

उसने आँखों में जल भरकर जब यह कहानी अपनी 'हेडमिस्ट्रेस' को सुनाई तो उन्होंने सांत्वना देते हुए कहा—
"चुप रहो। मैं तुम्हारे घर वालों को समझाऊँगी....!"

घर आकर हेडमिस्ट्रेस ने उनसे कहा—“आपलोग अभी शकुन्तला का ब्याह स्थगित रखें। आपलोग जानते ही हैं कि शकुन्तला पढ़ने-लिखने में कितनी तेज है...उसे बराबर स्कालर-शिप और पुरस्कार मिलते रहे हैं...वह हम लोगों के स्कूल को गौरव है। उससे हमें बहुत कुछ आशाएँ हैं।”

शकुन्तला द्वार के पीछे खड़ी सुन रही थी।

“किन्तु बात यह है”—चाचा साहब गंभीर होकर कह रहे थे—“हमने वचन दे दिया है। और फिर शकुन्तला को ऐसा सौभाग्य मिल भी नहीं सकता। वे एक अच्छे जमींदार और अपने जिले के चेयरमैन भी हैं। आधुनिक विचारों के समर्थक होने के कारण तिलक-दहेज का भी प्रश्न नहीं उठता। हम गरीब आदमी हैं...यह ईश्वर की दया है कि उन्होंने मेरे यहाँ सम्बन्ध करना स्वीकार कर लिया...।”

हेडमिस्ट्रेस चुप सुनती रहीं; फिर आहिस्ता बोलीं—“मेरी राय में आप अभी और ठहर जाते तो अच्छा होता...।”

“यह कैसे हो सकता है ?”—चाची साहब इस बार अपने विकारों को छिपाती हुई बोलीं—“आखिर हम समाज में रहते

हैं...समाज की बातें तो हमें माननी ही होंगी। शकुन्तला अब बचची नहीं रही। कितनी मिन्नतों के बाद उन्होंने शादी करना स्वीकार किया है। आपका समाज तो आप लोगों को जन्म भर कुमारी रहने दे सकता है (यह व्यंग्य हेडमिस्ट्रेस के ईसाई और कुमारी होने पर था); किन्तु हमें तो अपना लोक-धर्म देखना है...”

हेडमिस्ट्रेस ने फिर कुछ नहीं कहा। उठकर गाड़ी पर बैठ गईं।

और दूसरे दिन से शकुन्तला का स्कूल जाना बन्द कर दिया गया।

और आज ? आज उसे यही वरदान मिला है। उसके एक युग की तपस्या का, एक युग की साधना और आराधना का यही पुरस्कार है।

पति की ओर वह क्षण भर भी देखकर हतप्रभ हो उठती। उनके चेहरे पर गम्भीरता की एक ऐसी घनी छाया रहती, जिसे देखकर उसके प्राण स्तब्ध रह जाते। आँखों में बड़बपन, अधपकी मूछों में सांसारिकता नजर आती।

वह अपने अन्तर से पूछती—“हाय, तुमने यही सब चाहा था, यही ?”

पतिदेव रात-दिन कामकाज में व्यस्त रहते। आज यहाँ का दौरा है...कल वहाँ सभापति होकर जा रहे हैं...परसों जमींदारी के काम से किसी दूर के गाँव में जाना है...

इस इतने बड़े विशाल घर में एक दूर के रिश्ते की मौसी हैं, जो हमेशा खाट पर पड़ी रहती हैं। नौकर और महरी काफी हैं; किन्तु काम ही का तो अभाव है !

दिन भर लेटी वह पुस्तकों में मन को उलभाये रखती है। वह पढ़ती है, पढ़ने की चेष्टा करती है। किन्तु मन कहाँ लगता है ? पुस्तक फेंककर वह खिड़की के पास आ खड़ी होती है। देखती है, नगर कोलाहल से भरा है और असंख्य मानवों का समुद्र उमड़ पड़ा है। सभी अपने-अपने कामों में इस तरह व्यस्त हैं कि उन्हें मरने की भी फुरसत नहीं ! दूर, किसी मिल का धुँआ गोलाकार होकर शून्य में उड़ा जा रहा है।

वह सूनी-सूनी आँखों से उस शून्य को देखती हुई मानों प्रश्न करती है—“और तुम्हारे जीवन में क्या है शकुन्तला ? कितनी सूनी हो तुम !”

सहसा एक दिन उसके पति एक तार लिए आये और बोले—“तुमने सुना ?”

उसकी प्रश्न-सूचक सूनी आँखें उठीं।

“कल की ट्रेन से अशोक इलाहाबाद से आ रहा है। आन्दोलन में भाग लेकर और दो वर्ष की सजा काट आज वह मुझसे मिलने आ रहा है.....।”

वह चुप की चुप रही। वह इतना भर जानती है कि अशोक एम० ए० पास युवक, एक पत्र का सम्पादक और पति

का—दूर के रिश्ते का—भाई है। पति की माँ की गोद में वह पला है और वैसा ही प्यार पाया है। बचपन में ही अनाथ होकर वह इसी परिवार में आ गया। मरते समय माँ ने पति से कहा था—‘अशोक को तुम्हारे जिम्मे सौंप जाती हूँ। अपनी सखी की बात मैंने निभाई और अब आगे का काम तुम्हारा है।’

दूसरे दिन जब अशोक आया, शकुन्तला को देखकर ठिठक-सा गया। उसने एक बार अपने भैया की ओर देखा और दूसरी बार लजीली दृष्टि से शकुन्तला की ओर।

भाई साहब हँसकर बोले—“प्रणाम कर, ये तेरी नई भाभी हैं।”

और बात समझ अशोक मुस्कराकर बोला—“नमस्ते भाभी ...।”

शकुन्तला लाज से गड़ी जा रही थी। वह पसीने से शराबोर हो गई। अपनी कमजोरी छिपाने वह अपने कमरे की ओर मुड़ पड़ी।

×

×

×

इन दिनों शकुन्तला अपने में जाने एक कैसी कमजोरी पा रही है। वह अशोक से बचना चाहती है। अपनी कमजोरियों से वह डरने लगी है।

अशोक की बातें क्यों उसके हृदय में तूफान उठा जाती हैं ?

उसके पति उससे कहते हैं—“अरे भाई, बेचारा कुछ दिनों के लिये आया है। तुम तो इससे कुछ बोलती भी नहीं।

इसके चाय-पानी का इन्तजाम भी तुम नहीं करती...!”

और यह ‘भाभी’ ?—उसके रोम-रोम में जाने इस शब्द से कैसी सिहरन हो उठती है।

चाय लेकर वह अशोक के पीछे जा खड़ी होती है। देखती है, अशोक पुस्तक पढ़ने में मग्न है। वह देखती की देखती रह जाती है। फिर आहिस्ता कहती है—“अशोक बाबू, चाय पी लें...।”

अशोक का ध्यान-भंग होता है—“अभी तक भैया नहीं आये ? ग्यारह बज गये...रात काफी गुजर चुकी...स्वायेंगे कब ?”

“यह तो रोज की बात है अशोक बाबू !”—वह एक निश्चित स्वर में उत्तर देकर चाय टेबुल पर रख देती है।

“रोज की बात !”—अशोक मानों दुहराता है, और एक बार अपनी सत्रह साल की भाभी को देखता है। भाभी इसी अवस्था में कितनी गंभीर है !

वह धीरे-धीरे कमरे से बाहर हो जाती है और अशोक को लगता है मानों यह ‘भाभी’ कोई शान्त ज्वालामुखी है, जो अपने भीतर कितने तूफानी इतिहास छिपाये है !

एक दिन हँसते-हँसते वह पूछ बैठी—“अशोक बाबू, आप बहू कब लाते हैं ?”

“बहू ?”—अशोक जैसे चौंक पड़ा।

“हाँ, कहिये। मैं आपके लिये बहू ढूँढ़ दूँगी। कैसी बहू

चाहते हैं आप ?”—कहकर वह हँस पड़ी।

“बहू ? आप ही जैसी !”—अशोक के मुँह से निकला।

शकुन्तला के हँसते अधर एकाएक रुक गये। चेहरा गंभीर हो गया। अशोक की आँखों में उसकी आँखें मिल गईं। भाभी की आँखें शान्त और डबडवाई थीं, और अशोक की आँखों में थी एक व्यथा, शायद ग्लानि भी !

तो यह सब क्या है...क्या है ? वह एकान्त में मानों अपने से पूछती है। वह क्या सचमुच अशोक को हृदय दे बैठी है ? क्यों वह बार-बार अशोक के सम्मुख जाना चाहती है ? अशोक से बातें करते समय क्यों उसका हृदय धड़कने लगता है ? वह कातर भाव से खिड़की के बाहर अपनी सूनी आँखों को बादलों में टिका देती है।

इस तरह कई दिन गुजर गये। एक ठलते दिन की बात है। उसके पति रोज की तरह बाहर थे। वह चाय लेकर जब कमरे में गई, अशोक किसी गहरी चिन्ता में डूबा था।

चाय लेकर वह बोला—“बैठिये भाभी।”

सकुचाती हुई वह कोच के दूसरे कोने में बैठ गई।

चाय का घूँट पीकर अशोक कहने लगा—‘भाभी, मैं भी जानता हूँ, आप भी जानती हैं, हम मनुष्य हैं। मनुष्य की दुर्बलताएँ उसके हृदय के किसी कोने में छिपी ही रहती हैं। कब ये उमड़ जायँगी, कब ये हमारे धुँधले आवरण को उतार फेकेंगी, यह कोई नहीं कह सकता। मनुष्य इन्हीं कमजोरियों

से बचने के लिये धर्म, समाज, कायदे, कानून, सभी बनाता है। हमारा समाज तो औरों से कहीं अधिक बढ़ गया है... यहाँ प्रेम को बज्ञातू बाँधने की चेष्टा की जाती है...मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के प्रति घृणा प्रकट की जाती है...सच कहिए भाभी, अपनी स्थिति से क्या आप संतुष्ट हैं? क्या आप स्वयं अपने को धोखा नहीं दे रही हैं?"

“ओह! अशोक बाबू! आपने मुझे इसीलिये बैठाया था?" उसकी आँखें डबडबा गईं।

चाय का दूसरा घूँट लेकर अशोक बोला—“भाभी, आपको कष्ट होगा, यह मैं जानता था। किन्तु जाने क्यों मेरे अन्तर में कोई विद्रोह कर रहा है कि जो सत्य है, उसे मैं खोल ही क्यों न दूँ?...आप डरिये नहीं भाभी...मुझमें इतनी शक्ति है कि मैं आप पर जरा भी आँच न आने दूँ....मुझे अपने पर भरोसा है...मैं अपने भैया के साथ कभी अन्याय कर भी नहीं सकूँगा। किन्तु”—अशोक मुस्कराया; फिर बोला—“किन्तु देखता हूँ भाभी, बादल धिर रहे हैं...क्यों, मेरा अनुमान गलत तो नहीं है...?”

उसकी आँखें अशोक के चेहरे पर स्थिर हो गईं; फिर वह हाथों में मुँह छिपा सुबक पड़ी।

x

x

x

दूसरे दिन जब अपने सामान अशोक नौकर से बँधवा

रहा था, शकुन्तला के पति ने अकचकाकर पूछा—“यह क्या अशोक, आज ही जा रहे हो ?”

“हाँ भैया, अखबार का बहुत सा काम छोड़ आया हूँ ।”—
अशोक ने अपने भैया के चरण छूकर कहा—“आशीर्वाद दो कि मैं अपने पथ पर आगे बढ़ता जाऊँ....।”

शकुन्तला के पति ने प्रेम में विह्वल होकर अशोक को गले लगा लिया । बोले—“जाओ भाई, मेरी कामना सदा तुम्हारे साथ है ।”

अशोक मुड़ा और द्वार पर खड़ी अचल, निष्प्राण-सी नारी से बोला—“नमस्ते भाभी, अब विदा दीजिये....आकाश में बादल उमड़ते ही आ रहे हैं, शायद तुरत वर्षा हो ।”—कहकर उसने एक बार लहराते मेघों को देखा, फिर एक म्लान और करुण मुस्कान उसके अधरों पर दौड़ गई !

और, जब गाड़ी आवाज करती हुई दूर निकल गई, तब उसे देखते हुए उस अचल नारी की दो बड़ी आँखों से दो मोटी और गरम बूँदें कपोलों पर दुलक कर ही रहीं ।

मरुस्थल के मध्य से

कला,

तुम्हें खोकर, सोचता हूँ, अब खोने को रह ही क्या गया है ? जिन्दगी की दौड़ में, जब मैं अत्यन्त कातर और निष्प्रभ था, तुम्हारा आगमन मुझमें एक सिहरन पैदा कर गया। अपनी सारी पीड़ाओं को निगल मैं मुस्कराया। मेरे ओठों पर न जाने कितने शुष्क वर्षों के बाद एक मुस्कराहट आई। मैंने सोचा—चलो, जिन्दगी में एक 'ओएसिस' भी मिली !

तुम्हें मैंने अवाक् होकर देखा। मेरी सारी चेतना मानों कुंठित हो गई। मैंने चकित होकर रोचा—यह देवकन्या इस कठोर धरती पर कैसे आ गई ? क्या तुम सचमुच देवलोक से नहीं आई थी ? आज तुम्हें खोकर मैं सोचता हूँ, 'जीवन' 'निर्ममता' का ही तो पर्याय है !

तुम्हारी मुस्कराहट (जो आठों पहर तुम्हारे अधरों पर थिरकती रहती थी) को देखकर मैंने सोचा—क्या विषाद की तरंगें तुम्हारे हृदय में नहीं उठतीं ? तुममें मैंने नारीत्व के सभी तन्तु पाए ; वरन् मुझे ऐसा लगा कि तुम 'नारी' शब्द की सम्पूर्ण 'अभिव्यक्ति' होकर इस धरातल पर आई हो !

मन में बहुत धुँआं भर आता है और तुम्हारी बात जब

सोचने बैठता हूँ, तो मेरी अन्तर्वेदना का क्रम मानों सीमाहीन हो उठता है ! ओ देवि ! आज तुम्हारी ममता बड़ी याद आ रही है । क्यों तुमने अपने कोप का सारा स्नेह इस अभागे के लिए खोल दिया ? क्यों तुम इतनी उदार, इतनी महान् निकली ? मेरे सारे भविष्य पर क्या एक गहरी काली रेखा तुम नहीं खींच गई ?

सुना—मृत्यु के पूर्व तुम्हारे नयनकोर से कुछ आँसू निकले थे । तुम जोल नहीं सकती थी । तुम्हारा कंठ अवरुद्ध था ; तुम्हारी वाणी क्रमशः सूक होती गई थी । मृत्यु के पहले किसी को भर आँखों से देखने की तुम्हारी वः इच्छा ! हाय, तुम कितनी अभिमर्त्य रही ! कितनी वेदना, कितने अरमान साथ लिये गई !

तुम चली गई—मात्र उन्नीस वसन्त ही तुम्हारे जीवन में आए । इस छोटी-सी अवधि में दुनिया को तुमने बहुत कुछ देख-भाल लिया था । कभी-कभी मैं यह सोच कर अवाक् रह जाता हूँ कि तुम्हारे ओठों की वह मुस्कराहट कितनी सहज, स्वाभाविक थी ! अभावों की आँधी में तुम पनपी—कितने निष्ठुर आघात तुम्हें सहन करने पड़े, ओ कल्याणि !

आज तुम्हें खोकर मुझे लगता है मानों मेरी रगों में प्रवाहित होने वाला उष्ण रक्त शीतल होता जा रहा है । किसी भी लड़की को देखता हूँ, तो तुम्हारी छाया मेरे हृदय-पट पर उतर आती है । तुम एक रहस्य रही—ऐसा रहस्य जिसे आज

भी, अनेक चिन्तन-मनन के उपरान्त भी—मैं हल नहीं कर पाया हूँ !

तुम्हारी आँखों के बीच जो स्निग्ध आभा थी, वह तुम्हारे अन्तर की शुचिता प्रकट करती थी। मैं जब उन आँखों का स्मरण करता हूँ, तो श्रद्धा से मेरा मस्तक नत होना चाहता है !

तुम्हारी मृत्यु की खबर पाकर मैंने रोना चाहा था। बहुत बेचैनी इकट्ठी हो गई थी। एक युग के पश्चात् मेरी आँखों में आँसू आए। दो-चार बूँदें ही तो ये दुखिय, आँखें गिरा सकीं ! किन्तु वे आँसू इतने गर्म थे कि मैं स्वयं चकित रह गया। 'गीता' फेंककर और 'ईश्वर' को लक्ष्य कर मैं चिल्लाया—
'दगाबाज' !

यह मेरी नास्तिकता की चरमसीमा थी। यह मेरे दुःख का 'क्लाइमेक्स' था। मैंने दीवार में अपना सिर दे मारा ! असह्य यंत्रणा से मैं पागल था !

और आज, जब तुम नहीं हो (यह सत्य और भी भयंकर लगता है) तो मेरी कल्पना के पंख टूट चुके हैं। मेरे स्वप्नों की दुनिया उजड़ चुकी है और मैं अपने को एक ऐसे रेगिस्तान में पाता हूँ जहाँ सिर्फ जलते बालू के अंधार हैं !

कला, तुम क्यों आई मेरे जीवन की धधकती ज्वाला में शबनम की एक बूँद बन कर ? तुम क्यों आई मेरे कठिन और उत्तम डगर में चाँद की एक किरण बनकर ?

तुमने, सच पूछो, तो मुझे दुःख की एक नदी से यंत्रणा के

एक महासागर में फेंक छोड़ा ! आज मैं अत्यन्त निराश हूँ । सारा भविष्य कुहरे से ढँका है । सारी जिन्दगी एक कठिन बोझ-सी प्रतीत होती है जो मुझ जैसे अपाहिज से न चल सकेगी ! कब मैं लड़खड़ाकर गिरूँ, कब मेरे काँपते करों से यह बोझ छूट जाय, मैं नहीं कह सकता । जीवन को रोमांटिक रूप से देखने की प्रवृत्ति मैंने खो दी है ! आज जिन्दगी एक ऐसी लाश सी जँचती है जिसका पोस्टमार्टम उसे और भी भयंकर एवं कुत्सित बना रहा है !

क्या होगा यह रोना रोकर ? पर ओ छलनामधि, तुम मेरी सब से बड़ी शत्रु निकली ! इतनी व्यथा, इतना हाहाकार दे गई कि उसके लिए मैं उपमा ढूँढ़ नहीं पाता ।

आज तुम्हारी तस्वीर फिर मेरे अन्तर को झकझोर गई । वही ओठों की सहज, सलोनी मुस्कान...वे ही स्निग्ध, उदार और ममतामयी आँखें...घूँघट के बीच से तुम्हारा विहँसता आनन ।

हृदय में किसी ने सुई चुभोई । धमनियाँ रुकती सी लगीं । लड़खड़ाते हाथों से मैंने उसे बन्द कर दिया । नहीं देखूँगा तुम्हारी मूर्ति को....नहीं चाहूँगा कि भावुकता की आँच में मेरा हृदय क्षत-विक्षत हो जाय...

जीवन की दार्शनिकता में डूबकर अपने मन को सांत्वना देना चाहता हूँ । यही तो क्रम है जीवन का ! खोना और पाना...

आदमी खोकर पाता है, पाकर खो देता है ! और तुम्हें खोकर मैंने क्या पाया ? मात्र कड़वी, तोखी उदासीनता !

यह पत्र तुम्हें क्यों लिख रहा हूँ ? मात्र यह पागलपन ही तो है ! किन्तु कौन जाने, मुझ जैसे संतप्त इस विश्व में कितने होंगे ! मेरी तरह वे भी विक्षिप्त हो सांत्वना के कुछ शीतल कण चाहते होंगे ! यह निर्मम दुनिया क्यों इतनी उदार होने लगी ? दुनिया को अपनी चिन्ता है ; अपनी समस्याएँ हैं ; अपनी बेचैनी है !

अपनी व्यथा को अक्षरों में बाँधकर, ओ देवि, मैं तुम्हारी स्मृति को नमस्कार करता हूँ ।

व्यथित,
लेखराज

सिगरेट की राख

यह सिर का दर्द है और यह जली हुई सिगरेट है। आराम-कुर्सी पर लेटा कुमार सूनी आँखों से सामन के हिलते हुए नीम के वृक्ष को देख रहा है। जीवन में एक गहरी उदासी छाई है। चारों ओर जैसे लगता है—एक रिक्तता, अभाव की छाया सोई पड़ी है। बगल के बँगले से मारों आनन्द का उच्छ्वास उमड़ रहा है। क्लिककारियाँ मचती हैं और नारी-कंठ की निर्दोष, उज्ज्वल, उन्मुक्त खिलखिलाहट वायु में व्याप्त हो रही है। यह संभवतः उसी नववधू के आनन्द का उद्रेक है जो हाल में, पावों में महावर डाल, माथे में सुहाग का चिह्न लेकर अपने पति के घर में ज्योति बन आई है। कुमार उसके पति से परिचित है। उसका पति सेक्रेटेरिएट की एक अच्छी नौकरी पर है। सारी दुनिया कितनी बभी है! और एक कुमार है, जो अपने को सूना पा रहा है। सिर का दर्द (जो कुमार से खूब हिलमिल गया है) इस सूनेपन में और भी निखर आया है। सिर के वालों में आँगुलियाँ फैलाकर कुमार ने सोचा—जीवन की दार्शनिकता और सिर दर्द में क्या साम्य है? जब वह जीवन की गुत्थियाँ सुलभाने बैठता है, सिर का दड़ आहिस्ते अपनी जगह पर आ बैठता है!

कुमार फालेज में लेक्चरर है। इतिहास के मोटे ग्रन्थों में

उसने अपने जीवन की अधिकांश शक्ति लगाई है। पुरातत्त्वों के गह्वर में अपनी प्रतिभा को फैलाकर उसने बहुत सारी सामग्री एकत्रित की है। अपनी 'थीसिस' पर वह डाक्टरेट भी पा चुका है। यह सब कुछ है किन्तु कुमार का मन है जो खोया-खोया सा रहता है। उसके ओठों पर एक ऐसी निष्प्रभ मुस्कान है जो उसके सूनेपन को व्यक्त करती है। कुमार मौन रहने वाला प्राणी है। उसकी मित्रमंडली उसकी अपनी लाइब्रेरी ही है। अपना कहने लायक सिर्फ एक माँ है। यह माँ ही उसके बंजर जीवन की 'ओएसिस' है। अपनी इस स्नेहमयी जननी को पाकर ही कुमार अपने को चेतन रखने में समर्थ हो सका है। किन्तु यह सिर का दर्द...! यह दर्द है जो कुमार को पागल बना देता है। रह रहकर यह दर्द उठ खड़ा होता है और कुमार की सारी चेतनता पर छाकर मानों उसे व्यर्थ बना देता है। और यह दर्द तब और सांवातिक हो उठता है जब किसी की याद उसके मन-प्राण में भर आती है...

यह याद हेम की है। हेम नाम की लड़की उसके जीवन की गति में एक प्रश्न—विराम के चिह्न के समान आ खड़ी होती है; कुमार इस समस्या को लेकर हैरान रह जाता है। उसके सारे शुष्क पुरातत्त्वों की अनुभूति पर हेम नाम की यह लड़की मानों विद्रूप कर जाती है। कुमार की आँखें जलने लगती हैं; माथे की नसें फटने लगती हैं।

कुमार बौद्धिकता का उपासक रहा है। भावुकता के दलदल

से वह सदा बचता आया है। इतिहास के सन् और सिकों में उसकी बुद्धि अधिक दौड़ी है। किन्तु यह हेम.....! हेम को सर्वप्रथम उसने एक संगीत की प्रतियोगिता में देखा था। पन्द्रह-सोलह साल की उस हेम नामक लड़की को देखकर कुमार के हृदय में स्पन्दन हुआ था। हेम कवि जयदेव की निम्न पंक्तियाँ हारमोनियम पर गा रही थी—

“ललित लवंग-लता-परिशीलन
कोमल मलय समीरे...
मधुकर-निकर-वरम्बित-कोकिल
कूजित कुञ्ज-कुटीरे...”



“धीर समीरे यमुना तीरे
“बसति बने बनमाली.....”

कवि जयदेव की इन पंक्तियों को वह अनेक व्यक्तियों के मुख से सुन चुका है। किन्तु जो प्रभाव हेम की शब्द-लहरियों ने उत्पन्न किया था, वह आज भी कुमार के हृदय पर अनुकरण है !...

बाद में पता लगाने पर मालूम हुआ कि हेम का घर उसी के मुहल्ले में है और वह एक रिटायर्ड डिप्टी-मजिस्ट्रेट की सब से छोटी सन्तान है...

हेम के बड़े भाई से परिचय होते देर न लगी। वह कुमार

के साथ ही बी० ए० के दूसरे वर्ष में था। कुमार की प्रतिभा से कालेज का प्रत्येक छात्र परिचित था और यह बात किसी से छिपी न थी कि सदा से स्कालरशिप पाने वाले कुमार का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है...

कुमार से मित्रता करने के लिये उसके सहपाठी सदा उत्सुक रहते थे; किन्तु कुमार था जो सदा बचा करता। इसलिए जब उसने शिवचन्द्र (हेम का बड़ा भाई) की ओर हाथ बढ़ाया तो शिवचन्द्र की प्रसन्नता की सीमा न रही।

धीरे-धीरे वह हेम के परिवार से अत्यन्त घुलमिल गया। हेम भी उसके निकट आती गई। वह उन दिनों गर्ल्स कालेज के प्रथम वर्ष में थी।

हेम का संकोच दूर होता गया। एक स्पन्दन उसके हृदय में भी हुआ और वह कुमार के सम्मुख एक खुली किताब की तरह आ गई...

और कुमार ने तो मानों स्वर्ग ही पा लिया था। अपनी आकांक्षा को सत्य रूप में परिणत होते देख उसे स्वयं अपनी स्थिति पर विश्वास नहीं हुआ।

हेम की बड़ी, उदार और प्यारी आँखों में एक ऐसा रस छलका जिसको आँखों द्वारा ही पीकर कुमार मदहोश हो गया... उसे मालूम हुआ, मानों वह दुनिया का सबसे सुखी प्राणी है! जीवन की कोई कामना शेष न रह गई। वह उस समय सुख से मर भी सकता था...

....ओह ! यह सिर-दर्द तो और सहा नहीं जाता ! दाईं ओर की नस तो मांनों फटी जा रही है....कुमार ने असह्य व्यथा के कारण आँखें बन्द कर लीं...

तो जीवन को एक रंगीन वातावरण से ढक कुमार अपनी सुनहली दुनिया में व्यस्त था । बातें बहुत कम हो पाती थीं । किन्तु आँखों की भी तो एक भाषा होती है । आँखें बहुत सारा रहस्य प्रकट कर देती हैं । और फिर हमारे यहाँ प्रेम की भाषा मूक ही रहती है—मुखरित नहीं होने पाती । हेम के अधरों की एक मुस्कान पाकर कुमार मानों एक अक्षय निधि पा लेता । एक दिन चाय का प्याला हेम से लेते हुए उसकी अंगुलियाँ हेम की अंगुलियों से जा टकराई थीं । उस स्पर्श की सिहरन कितनी मुग्धकर थी ! वैसा सुख सम्भवतः युनिवर्सिटी का रेकॉर्ड तोड़ने में भी प्राप्त नहीं हुआ था....!

इस तरह ढाई लम्बे वर्ष प्रणय की मार्मिक अनुभूति में व्यतीत हो गये ; कुमार एम० ए० के पश्चात् रिसर्च का काम कर रहा था । माँ कहते-कहते हार गईं ! रूँधे गले से उन्होंने कहा—“बेटा, तूने मेरी कोई बात नहीं उठाई । अब तू व्याह करने पर राजी क्यों नहीं होता ? तू मेरी बात टाल कर मुझे कितनी ‘व्यथा’ दे रहा है...!”

और मुँह का कौर हाथ में रोककर वह बैठे गले से कहता—“इतनी जल्दी क्या है माँ, मैं कोई बूढ़ा तो होता नहीं जा रहा हूँ !”

हाथ के पंखे को जोर से डुलाकर माँ अपनी खीम प्रकट करतीं—“किन्तु मैं तो बूढ़ी होती जा रही हूँ...!”

माँ का रूँधा कंठ कुमार में दुःख की एक लहर उत्पन्न करता। उसकी यह स्नेहमयी जननी अपने पति (कुमार के पिता) के मरने के पश्चात् अपनी एकमात्र सन्तान पर पन्द्रह लम्बे वर्ष काट आईं। अपने सारे सुख-दुःख को उन्होंने कुमार पर ही केन्द्रित कर दिया था। कुमार के पिता बैंक में थोड़ी सम्पत्ति और दो-चार बँगले छोड़ गए थे। उन बँगलों के किराए से दो प्राणियों के लिए पर्याप्त खर्च निकल आता था। कुमार के पिता भी इतिहास के ही प्रोफेसर थे। देश के सुप्रसिद्ध इतिहासकारों में उनका स्थान था। कुमार ने बचपन में पिता की लाइब्रेरी को देखकर निश्चय किया—मैं सभी पुस्तकें पढ़ डालूँगा।

निरत अध्यवसाय, अनवरत चिन्तन और मनन ने कुमार में एक ऐसी प्रतिभा का सृजन किया कि लोग विस्मय-विमुग्ध रह जाते ! पिता का संस्कार पुत्र में भलीभाँति पल्लवित हुआ है, यह देखकर कुमार की माँ के नयन आनन्द के आँसुओं में डूब जाते।

और उधर कुमार था जो हेम को लेकर व्यस्त था। उन दिनों हेम बी० ए० के प्रथम साल में पढ़ रही थी। उसने बी० ए० में इतिहास ले रक्खा था और कुमार बहुत उत्साह से उसे नोट्स देता....

किन्तु हठात्....

हाँ, हठात् ही तो उसके स्वप्नों के महल में किसी ने बारूद लगा दी ! हठात् ही एक दिन हेम ने उदास और बैठे गले से कहा—“तुम्हारा यहाँ आना अब अच्छा नहीं है कुमार ।”

“हेम...!” कुमार अवाक् था ।

“ओह ! कुमार...तुम नहीं जानते....तुम नहीं जानते !”
आँसुओं को बलपूर्वक रोककर हेम ने कहा ।

कुमार कुछ भी समझ न सका था !

रूँधे गले से दृढ़ स्वर में हेम बोली—“तुम नहीं जानते कुमार, मेरा व्याह हो रहा है !”

‘व्याह !’ कुमार के गले में मानों कोई चीज अटकी ।

हेम उस दिन और न ठहर सकी । शिवचन्द्र भीतर से आ गया बोला—“तुम्हारा चेहरा इतना फक् कयों है ?”

कुमार की चेतना मानों लौट आई । अपने को संयतकर मुस्कराने का असफल प्रयास कर, कुमार बोला—“सिर में भयानक ददं हो रहा है, शिव !”

“अरे ! तो तुमने कहा क्यों नहीं ? काफियास्प्रिन तो मेरे पास होगा ही । बाम भी...।”

“नहीं रहने दो....सब ठीक हो जायगा ।” कहकर कुमार तेजी से आगे बढ़ गया था...

और फिर वह हेम के यहाँ कभी नहीं गया...कभी जा नहीं सका ।

एकांत में आने पर उसे एकाएक लगा कि इसकी आशंका तो पहले ही होनी चाहिये थी। वह इस मामूली सत्य से अब तक क्यों अपरिचित रहा? आज के हिन्दू-समाज में क्या यह बात अस्वाभाविक नहीं है? कुमार ने दुर्भाग्यवश कायस्थ के कुल में जन्म लिया था और हेम में एक राजपूत का रक्त था। यद्यपि कुमार जातीयता के प्रश्न से स्वयं निर्लिप्त रहा एवं ईश्वर और धर्म के लिए वह अपने बहुमूल्य समय का थोड़ा भी अंश खर्च करने से हिचकता रहा, किन्तु समाज नाम का पदार्थ तो इनकी अवहेलना नहीं कर सकता था !...

जो हो, कुमार ने इस चोट को स्वीकार कर लिया। हेम के शरीर को न पाकर उसे विशेष दुःख नहीं हुआ। हेम के शरीर के प्रति वह भयानक रूप से आकर्षित भी न था। हेम का अन्तर ही उसके लिये सब कुछ बन कर रहा—सब कुछ।

हेम का व्याह हो गया। हेम का पति एक बहुत बड़ा आदमी था। वह एक जूट मिल का मैनेजिंग डाइरेक्टर था और लाखों रुपये उसने व्यवसाय में पैदा किए थे। हेम के पिता ने दुनिया देखी थी। पैसे पहचानने की सुविधा उन्हें खूब थी। फलतः अपने 'लखपति' दामाद को पाकर उनके हर्ष का पारावार न था। डिण्टी-कलक्टरी के जीवन में पैसों की महत्ता वे जान पाये थे। अतः अपनी पसन्द पर वे स्वयं फूले नहीं समा रहे थे।

हेम का व्याह हो गया। कुमार ने लोगों के मुख से

सुना कि इतनी शानदार शादी इधर पच्चीस साल से इस शहर में नहीं हुई थी ! शादी के समय कुमार देहरादून चला गया था अपने एक चचेरे भाई के यहाँ।

और फिर कुमार ने अपने जीवन में एक क्रम लाना चाहा। सिगरेट पीने का वह अभ्यस्त हो गया। सिगरेट और इतिहास के मोटे ग्रन्थ। रिवर के बाद वह एक कालेज में लेक्चरर हो गया था। अब वह डा० अनिलकुमार सक्सेना था।

माँ रो-धोकर हार गईं। किन्तु कुमार था जो टप से मस न हुआ। हेम का एक छोटा चित्र उसने अपनी सूटकेट में रख छोड़ा था। जब मन में बहुत धुँआँ इकट्ठा हो जाता तो उस चित्र को वह कुछ क्षणों के लिये निर्निमेष दृष्टि से देखता।

इसी तरह जिन्दगी की बोझिल नाव समुद्र में बही जा रही थी कि एकदिन...

हाँ, एक दिन उसके जीवन का सारा मेरूदण्ड टूट कर क्षत-विक्षत हो गया। यह खबर हेम की मौत की थी।...विवाह के दो साल के भीतर ही हेम की मौत हुई थी।

शिवचन्द्र उस संध्या को अत्यन्त म्लान मुख लेकर आया। बोला—“कुमार, आज हेम के मरने का तार आया है।”

कुमार के हृदय की गति मानों रुक सी गई।

“हेम ने एक मृतकन्या का प्रसव किया और उसी के साथ स्वयं भी चली गई....। न जाने क्यों उसका विवाहित-जीवन सुखी नहीं हो सका....वह सदा मुर्झा-सी रही। पिछले महीने मैं

उसे देखने गया था। वह पीली पड़ गई थी। सदा की हँसमुख हेम को सहसा मैं पहचान ही न सका...इतने थोड़े दिनों में वह इतनी बदल जायगी, इसकी कल्पना भी मैं नहीं कर सकता था। जो हो...अब तो वह चली गई। उसकी मौत से जो पीड़ा मुझे हो रही है यह मैं नहीं बतला सकता कुमार...तुम पर वह बहुत श्रद्धा रखती थी...उसकी मौत से तुम्हें भी...अरे, यह क्या, तुम्हें क्या हुआ...सम्हल कर बैठो कुमार....।”

तब तक कुमार को कुर्सी पर गश आ गया था !

माँ दौड़ी आईं। डाक्टर बुलाया गया और थोड़ी देर में कुमार की चेतना लौटी। एक फीकी मुस्कान अधरों पर लेकर बोला—“आपलोग कष्ट न करें।”

माँ की आँखें तो सावन-भादो हो रही थीं। शिवचन्द्र ने कहा—“तुम्हारा हृदय बहुत ही नाजुक है, कुमार !”

कुमार ने उत्तर में सिर्फ मुस्करा दिया।

×

×

×

उस रात वह एक क्षण के लिए भी न सो सका। सिर में भयंकर दर्द था और माथे की नसें फट रही थीं। जलती आँखों से वह एकटक सामने के अंधकार को देखता रह गया था। न जाने क्यों ‘गीतगोविन्द’ की पंक्तियाँ बार-बार याद आ रही थीं—

‘धीर समीरे...यमुना तीरे

बसति बने बनमाली...’

स्वर-लहरियाँ काँपती-सी कुमार के अन्तःस्तल में व्याप्त थीं। हेम के गले की थर्राहट थी...कोमल, पतली कलात्मक अँगुलियाँ हारमोनियम के पर्दे पर मानों थिरक रही थीं—

‘मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल

कूजित-कुञ्ज कुटीरे....’

दूसरे दिन उसे बुखार था और बुखार पन्द्रह दिनों तक कुमार को अचेतन बनाए रखने में समर्थ रहा था...

और उसके बाद कुमार जब स्वस्थ हुआ तो हृदय सदा के लिए अस्वस्थ ही रह गया। थोड़ी परीशानी एवं परिश्रम के कारण उसके माथे में दर्द उत्पन्न हो जाता...

आज कालेज में एक नई लड़की ने एडमिशन लिया है। उसकी मुस्कराहट ठीक हेम की तरह है। उस मुस्कराहट ने कुमार को अस्थिर बना छोड़ा है। क्लास में आज वह ठीक से लेक्चर नहीं दे सका। रह-रह कर उसकी आँखें उस लड़की की मुस्कान को देखने लगती हैं। लड़के हैरान हैं कि आज डाक्टर कुमार इतने चंचल क्यों हैं? सदा से शुष्क रहने वाला यह व्यक्ति आज इतना सरस कैसे हो गया? लड़कियों की पंक्ति की ओर प्रोफेसर साहब की आँखें क्यों बिछल रही हैं?...

कुमार ने कहा—“आज मेरे सिर में दर्द हो रहा है।” और रजिस्टर उठाकर क्लास से बाहर निकल गया।

घर आकर वह अपनी आरामकुर्सी पर लेटा है। सिगरेट

जल कर राख होती जा रही है; और सिर का दर्द है जो घटने का नाम नहीं लेता...

नववधू की निर्दोष, उज्ज्वल, उन्मुक्त खिलखिलाहट वायु में व्याप्त हो रही है और नीम की टहनियाँ गोधूलि की धूमिल आभा में काँपती-सी नजर आती हैं...

कुमार सिगरेट की राख झाड़कर सोच रहा है, जीवन की दर्शनिकता और सिर-दर्द में क्या सचमुच साम्य है ?

स्थूल का विश्लेषण

आज मैं रायबहादुर हूँ। शहर में मेरी प्रतिष्ठा है। लोग मेरे नाम से प्रभावित होते हैं। मेरी उजली, चमकती कोठियाँ क्या आपने नहीं देखीं? उन्हें देखकर आपको मुग्ध होना पड़ेगा। मेरी नई मॉडल की मोटरें शहर में काफी विख्यात हैं।

मुझे सब-कुछ है—मैंने सब-कुछ पाया है, लोग यही कहते हैं। उन्हें मेरे भाग्य पर ईर्ष्या है; मेरी प्रतिष्ठा पर एक तृष्णा है। जिसकी ओर मैं आँखें उठाकर देखता हूँ, वह अपने को भाग्यशाली मानता है। सोचता है, रायबहादुर क्या नहीं कर सकते?

हाँ, रायबहादुर जगदीश माथुर मैं ही हूँ। शशिपुर की कोठी मेरी ही है। कई मिलों का मैनेजिंग डाइरेक्टर, जूट और पाट का पटु व्यवसायी, एक स्टेट का मालिक, आनरेरी मजिस्ट्रेट, विधवा-भवन का संरक्षक, अनाथालय का जन्मदाता, हिंदू-महासभा का मंत्री, युद्ध-कोष का सभापति और शहर की प्रायः सभी प्रमुख संस्थाओं को गति देनेवाला रायबहादुर जगदीश माथुर मैं ही हूँ।

उपर्युक्त बातें मैंने स्थूल रूप से कही हैं। लोग पूछते हैं—
“आपकी सफलता का रहस्य क्या है?”

प्रश्न सुनकर मेरे ओठों पर करुण मुस्कराहट दौड़ जाती

है। चुरुट का धुआँ उगल मैं उत्तर देता हूँ—‘निराशा !’

‘निराशा !’ प्रश्नकर्त्ता मेरी ओर इस तरह देखने लगता है, मानों मैं उससे मज़ाक कर रहा हूँ। अपनी आँखों को अच्छी तरह मेरे मुख पर जमाकर वह फिर पूछता है—“आप मुझसे मज़ाक कर रहे हैं ?”

उसके कंधे पर अपनी मोटी तलहथियों पटक मैं उत्तर देता हूँ—“नहीं भाई मेरे ! मैंने आजतक किसीसे मज़ाक नहीं किया !”

प्रश्नकर्त्ता चुप हो जाता है। फिर उसे आगे पूछने की इच्छा नहीं होती। वह आजतक यह जानता और पढ़ता आया है कि अदम्य उत्साह, अनवरत अध्यवसाय और अटूट परिश्रम के कारण ही रॉकफेल्लर, ताता, फोर्ड, नार्थक्लिफ, बिड़ला, डालमिया करोड़पति हो सके हैं।

निराशा तो आदमी को पंगु बनाती है। वह किसी को बड़ा भी बना सकता है, यह मनुष्य-कल्पना के बाहर की बात है।

किन्तु मेरी सफलता का रहस्य मेरी निराशा है। क्या आप भी मेरी बात पर विश्वास न करेंगे ?...निराशा ने मुझे आज लखपति बनाया है। आपमें से यदि एक भी स्थूल बुद्धि का आदमी इसे समझ सके, तो मेरी आत्म-कथा धन्य हो।

मैं सूक्ष्म पर विश्वास नहीं करता। स्थूल मेरा प्रिय विषय है। चाँद को चाँद ही मानता हूँ। वह मेरी कल्पना को नहीं बदल सकता। यही कारण है कि कविताओं से मुझे सख्त

नफरत है। कवियों को मैं पृथ्वी का भार मानता हूँ। शब्दों में अपनी दुर्बलता प्रकट करने के सिवा ये और क्या करते हैं? सच पूछिए तो मुझे सूक्ष्मता से चिढ़ है।

मैं काया से ही नहीं, मन से भी स्थूल हूँ। भावुकता मेरे लिए सपने की बात है। मैं कर्मठ हूँ। जीवन को भावना से घेरकर मैं दो दिन में ही पागल हो जाऊँगा।

इसीलिए मैं स्थूल हूँ। भावुक आदमियों को मैं दया की दृष्टि से देखता हूँ। ये ऐसे निरीह जीव हैं, जो भावुकता जैसी गीली चीज से अपनी जिन्दगी को घेर देते हैं। इन्हें क्या पता कि यह गीली चीज उनकी जिन्दगी को भी गला देगी!

निराश होकर ही आज मैं स्थूल हूँ। और मेरा तो विश्वास यही है, दुनिया में जितने बड़े आदमी होते हैं, वे सभी सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ते हैं।

आपको मेरी बात पर हँसी आ रही है। क्यों, है न? किन्तु दया का पात्र तो मैं आपको ही मानता हूँ। आपकी हस्ती मेरे सामने क्या है? मेरे तेज के आगे आप कितने निष्प्रभ हैं!

मैं भी कभी सूक्ष्म था और आपको यह सुनकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मैं आपकी तरह कविताएँ लिखता था!

आज उन कविताओं की याद आने पर अपने पर ही दया आती है। कितना बेचारा था मैं!

मैं दुर्बल था, इसलिए कविताएँ लिखता था। मेरा अपना मत है कि प्रत्येक कवि भीतर से दुर्बल होता है। कविता का

आश्रय ही पलायन की भावना से ओत-प्रोत है। कवि चाहे अपनी कविता में ज्वालाओं के अंबर लगा दे, किन्तु भीतर से वह बर्फ की तरह शीतल होता है !

तो मैं आपको बतला रहा था अपनी प्रारंभिक अवस्था ।

हाँ, पहले मैं इतना गरीब था कि दानेदाने को मुहताज था । पिता गाँव के पोस्ट-ऑफिस में प्यून थे और कुत्त मिलाकर १७) मासिक पाते थे ! इसी सत्रह में आठ प्राणियों का भार था । पाँच बच्चे, माँ, पत्नी और विधवा बहन ! आप उस गरीबी की कल्पना भी नहीं कर सकते । आज, जब मुझे उन दिनों की याद आती है, तो एक भयंकर सिहरन सारी देह में फैल जाती है ।

बासी भात और नमक ही हमारा दोनों समय का भोजन था । तरकारी खाए हफ्तों बीत जाते थे । और फिर दोनों शाम यह बासी भात भी सौभाग्य से मिल पाता था । हम भूख से रोते थे और मेरी माँ निराशा और दुःख के कारण हमें पीटने लगती थी । आपको शायद पता हो कि भूख और गरीबी माँ की ममता को भी उखाड़ फेंकती है । इसीलिए लड़कपन में मैं माँ के प्रति कभी उदार नहीं हो सका ।

उन बातों का अन्त नहीं । बचपन की मुसीबतों ने मुझमें कष्ट-सहिष्णुता की मात्रा बढ़ा दी और मैंने बड़ी आसानी से अच्छे लड़के की तरह, सिर हिलाकर मान लिया कि भूखे रहना मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है ।

मेरे पिता की आँखों में निराशा का समुद्र सर्वदा लहराता रहता था। उन आँखों में एक थकान थी, एक पराजित सैनिक की असमर्थता। बहुत ही कम उम्र में वे बूढ़े हो चले थे। माँ जितना बक-भक करती थी, पिता उतने ही मौन रहनेवाले प्राणी थे। वे बहुत कम बोलते; उनके ओठों पर कदाचित् ही हँसी दिखलाई पड़ती थी। गरीबी और भूख ने उनकी मानवीय कोमलताओं को उसी तरह जला रक्खा था, जिस तरह सिगरेट के जलने पर उसकी राख लटक जाती है।

घोर दरिद्रता में मैं पनपा। माथुर कायस्थों में हम शायद सब से अधिक गरीब थे। किन्तु पिता ने हमलोगों को एक पाठशाले में भर्ती करा ही दिया था। शिक्षा ही तो हमारी जीविका है। उनका ख्याल था कि बिना पढ़े हम 'मुंशीजी' कैसे हो सकते हैं।

सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, मैं पढ़ने में सब से तेज था। मनोवैज्ञानिकों ने बतलाया है कि बच्चे तभी तेज होते हैं, जब उनके जीवन में कुछ अभाव रहता है। इसी अभाव की पूर्ति वे अपनी प्रतिभा द्वारा करने की चेष्टा करते हैं। मैं अभाव के बीच पला ही था। माँ की सजी ममता, पिता का दुलार, जीने के साधन, कुछ भी तो हम नहीं पा सके।

स्कॉलरशिप मेरे पढ़ने की सीढ़ी थी। जीवन की परीक्षाओं में मैं सर्वदा प्रथम रहा हूँ। मेरे भीतर सारी दुनिया के प्रति एक जुगुप्सा, एक वितृष्णा थी। जब मैं किसी बड़े आदमी को

देखता था, तो आज के कम्यूनिस्टों की तरह सोचने लगता था कि ये नाबदान के कीड़े हैं ! हमारी सारी खुशी इन्होंने छीन ली है ; इनके ओठों पर जो लाली है, वह हमारे कलेजे के खून से रंगी गई है !

जाने दीजिए इन बातों को । ये बातें भावुकतापूर्ण हैं और प्रत्येक भावुक आदमी मेरे निकट दया का पात्र है । आज मैं भावुकता के स्तर से बहुत ऊँचा हूँ । सूक्ष्मता के तंतु मुझे परेशान नहीं कर सकते । सच पूछिए तो सूक्ष्मता और भावुकता को मैं पर्यायवाची मानता हूँ । भावुक आदमी ही सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है ।

मेरी फीस हमेशा माफ रहती थी । स्कॉलरशिप के रूप में मेरे ही लिए नहीं, मेरे परिवार के लिए भी वरदान सिद्ध होते गए । उन रुपयों को मैं घर भेज देता था और अपना काम ट्यूशन इत्यादि से चला लेता था ।

तब मेरी मसँ भींग चुकी थीं । किशोरावस्था को पारकर तरुणाई के प्रांगण में जब मैं घुसा उस समय मैं बी० ए० पास कर चुका था । सदा की भौँति मैं युनिवर्सिटी में इरा बार भी प्रथम था ।

सभी मेरी प्रतिभा पर चकित थे । लोग अब मेरे परिवार की कद्र करते थे । जो आदमी भर मुँह मेरे पिता से बातें नहीं करते थे, वे अब रास्ता छेककर कुशल-चेम पूछते थे !

सभी लोग समझ रहे थे कि मैं डिप्टी से कम क्या होऊँगा !

और बात भी सच थी । मैं जिस समय चारणा डिप्टीगिरी पा सकता था ! उन दिनों मेरी जैसी प्रतिभा डिप्टीगिरी को ठुकराकर कानून की ओर झुकती थी ।

मैंने भी कानून पढ़ने का निश्चय किया । साथ ही अर्थशास्त्र लेकर एम० ए० में भी दाखिल हुआ ।

खर्च जुटाने के लिए मुझे एक अच्छे ट्यूशन की जरूरत थी । सौभाग्य या दुर्भाग्यवश इस बार मैं एक बहुत ही धनी और सम्भ्रांत परिवार में ट्यूशन पा सका । मैं उस सज्जन का नाम न लूँगा क्योंकि अब वे बहुत ही दयनीय अवस्था में अपने जीवन के अन्तिम दिन काट रहे हैं ।

वे रायसाहब थे ! ठेके के काम से उन्होंने बहुत रुपया पैदा किया था । उनकी एक लड़की थी—शशि, जो मैट्रिक की परीक्षा देनेवाली थी ।

३०) रुपए पर मैं ट्यूटर हुआ । मुझे संकोच बहुत था । लड़कियों के प्रति न जाने क्यों मुझे कोई आकर्षण न था । और साथ ही इस क्षेत्र में मैं भोलानाथ था । मेरे लिए सिर्फ पुस्तकों की दुनिया ही सत्य थी, और सभी मिथ्या ।

शशि आई । मैंने उसे देखा । देखकर न जाने क्यों प्राणों में एक हलचल हो गई । यौवन के द्वार पर खड़ी सोलह साल की शशि मेरे अन्तर को झकझोर गई । मैं लड़खड़ाया । शशि की

पुस्तक मेरे हाथों से छूट पड़ी। चार आँखें मिलीं। दो दिल मिले। और मैं अशान्त हो उठा।

जब अपनी आत्म-कथा सुना रहा हूँ तो सभी बातें कहूँगा।
आवरण नहीं रक्खूँगा।

मैं भयानक रूप से शशि के प्रति आकर्षित हो गया। मेरे भीतर एक ऐसा द्वन्द्व उठा, जो मुझे एक क्षण भी चैन नहीं लेने देता था। एक ओर विवेक था, जो मुझसे पूछ रहा था—‘हाँ जी जगदीश, तुम किस ओर बढ़ रहे हो? तुम अध्यापक के पद पर हो न! तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है? छिः, तुम क्या अपने उत्तरदायित्व को भूल जाओगे? तुम जगदीश हो, यह क्यों भूलते हो? तुम्हारे पैर क्या कभी लड़खड़ाए हैं?’

दूसरी ओर यौवन की उदाम हिलोरें थीं, जो मुझसे मानों कह रही थीं—‘पागल! तुम क्या प्यार करने के अधिकारी नहीं? तुममें क्या यौवन का उष्ण रक्त प्रवाहित नहीं होता? तुम क्या बर्फ हो...तुमने शशि को देखा? उसकी आँखों पर गौर किया? उसके हृदय को टटोला?’

एक बार निश्चय किया—नहीं, यह ट्यूशन मुझसे नहीं होगा। मैं पागल हो जाऊँगा। शशि की व्योति को मैं सह नहीं सकता। शशि एक ऐसी दीपशिखा है, जो मुझे भस्म कर देगी!

किन्तु दूसरी ओर दुर्बलता पनपी। मैं जगदीश, युनिवर्सिटी का रेकर्ड तोड़नेवाला, प्यार की दुर्बलता में लड़खड़ा गया!

शशि का चेहरा जितना सुन्दर था, मन उससे कहीं सुन्दर था। दो दिन में ही मैं शशि के बहुत निकट आ गया। शशि तो एक खुली किताब की तरह सामने आ गई।

अभागिन लड़की भी भावुक थी। भावना की दुनिया में अधिकांश लड़कियाँ पनपती हैं। शशि ने मेरे प्यार को मूक शब्दों में ग्रहण किया। उसके कपोलों की लाली ने मुझे बतलाया—जगदीश, तुम हारने के लिए नहीं पैदा हुए !

महीनों बीत गए। शशि ने मैट्रिक की परीक्षा अच्छी तरह पास कर ली।

उसने एक दिन कहा था—“हिन्दू लड़कियाँ अपने प्यार को शब्दों में नहीं व्यक्त करतीं। वह जिसे अपनाती हैं, वह जीवन की अंतिम साँस तक उसके साथ रहता है।”

शशि की बात सुनकर मैं चुप रह गया था।

अब मैं शशि के छोटे भाई को पढ़ाता था। शशि ने आगे पढ़ना छोड़ दिया था।

एक दिन मुझे मालूम हुआ—शशि का ब्याह हो रहा है !

भावना के राज्य से मैं फिसल पड़ा। मैं दौड़ा शशि के पिता के पास पहुँचा। बोला—“आप यह नहीं कर सकते ! शशि का ब्याह मुझसे होना चाहिए !”

रायसाहब पहले तो चौंक उठे, फिर एक अवज्ञापूर्ण हँसी ओठों पर लेकर बोले—“तुम ! तुम शशि से ब्याह करना चाहते हो ? मेरे टुकड़ों पर पलते हो और तुम्हारी यह हिमाकृत है !

किताबें रटकर फर्स्ट क्लास डिग्री लेना आसान है....किन्तु पैसा और रोब पैदा करना तुम जैसे छोक्के का काम नहीं !...न तो तुम खानदानी आदमी हो और न तुम्हारी कुत्र हैसियत है ! मुझे तो तुम्हारे साहस पर आश्चर्य है ! एक प्यून का लड़का मेरी बेटी से व्याह करना चाहता है !—कहकर रायसाहब ठठाकर हँस पड़े ।

मैं जड़वत् उनकी बातें सुनता रहा । एक-एक शब्द मेरे कलेजे को छेदता रहा । और जब मुझे संज्ञा हुई, तो मैंने देखा, रायसाहब वहाँ से उठकर चले गए हैं !

मैं चुनचाप लौट आया । यह एक ऐसी चोट थी, जिसके कारण मेरे हृदय में भयंकर घाव हो गया ।

शशि का व्याह धूमधाम से हो गया । मैंने फिर शशि को जीवन में कभी नहीं देखा ।

पढ़ना छोड़ दिया । किताबों में आग लगा दी । फिर डेढ़ साल तक संन्यासी बनकर भारत के सभी प्रांतों में घूमता फिरा । शशि को भूतने के लिए मैंने क्या नहीं किया !

और तब कलकत्ते आकर मैंने एक संकल्प किया । अपनी सारी प्रतिभा मैंने जूट और दलाली के कामों में लगाई । भावुकता के आवरण को उतार फेंका । निराश होकर ही मैं जीवन में आगे बढ़ा ।

मैंने शशि के पति को बाद में देखा था । वह एक बिगड़ा हुआ रईस था । मैंने सोचा, यह कीड़ा शशि को इसीलिए तो पा

सका चूँकि इसके पास पैसे हैं ! और किस बात में यह मुझसे होड़ ले सकता है ?...समाज के प्रति, इन घृणित जीवों के प्रति, मेरे मन में एक कड़वापन भर गया ।

आज मैं रायबहादुर हूँ । मुझे कौन नहीं जानता ?

मैं सूक्ष्म से स्थूल हो गया हूँ । अपने पेट के साथ-साथ मैंने अपनी बुद्धि को भी स्थूल बनाया है । स्थूल बुद्धि से मेरा आशय दुनियादारी का है । मैं भावुर नहीं हूँ । भावुर होकर युनिवर्सिटी का रेकॉर्ड तोड़ा जा सकता है, किन्तु लखपती और रायबहादुर बनने के लिए दुनियावी होना आवश्यक है ।

आपने सेरी 'शशिवुर' कोठी नहीं देखी ? आप अवश्य आइए । मैं आपका स्वागत करूँगा ।

स्वर्ग और नरक

बीड़ी का आखिरी कश खींचकर रघुराज ने उसे फुटपाथ की नाली में फेंक दिया। वह नाली अत्यन्त दुर्गन्ध से भरी थी और उसमें कई छोटे और बड़े पिल्लू बिलबिला रहे थे। घृणा से रघुराज का अंग-प्रत्यंग सिहर उठा। अपने माथे पर बल डालकर उसने सोचा—आज आदमी की जिन्दगी इन कीड़ों से भी गई-बीती हो गई है! आदमी ने वर्ग-भेद की सृष्टि कर अपने ही समान हाथ-पैरवाले प्राणियों को कीड़ा बना दिया है!

और तब उसे अपने जीवन की छाया अत्यन्त कुत्सित लगी। उसका जीवन क्या उस नाली के पिल्लू से अधिक महत्त्व रखता है? इस नरक की जिन्दगी से वह ऊब उठा है। उसके जीवन में स्वर्ग बनाने लायक वस्तु रह ही क्या गई है? छ कमजोर और बीमार बच्चे, हड्डियों का ढाँचा भर रखनेवाली उसकी पत्नी कमला और उसकी बूढ़ी एवं अपाहिज माँ! और वह पाता है मात्र ३० मासिक-वेतन!....इस तीस में ही सारा स्वर्ग-नरक है। मकान का किराया है, दो सेर का चावल है... डाक्टर की दवा है....दो लड़कों की फीस है... और क्या नहीं है !...

यह सारा लम्बा भविष्य है। दो लड़के हैं, चार लड़कियाँ

हैं। विवाहित-जीवन के ग्यारह वर्षों के भीतर ही वह छ संतानों का पिता हो चुका है। पितृत्व का यह गौरव उसके मन में एक भी स्पंदन नहीं पैदा करता; वरन् करता है एक घृणा... एक तीखापन। हर्ष और पुलक से वह अपने बच्चों को गोद में नहीं लेता—लेता है एक डॉट के साथ, एक 'द्विः' के साथ।

वह एक सेठ के यहाँ नौकर है। सेठजी 'बहुत बड़े आदमी' हैं। कागज की उनकी अपनी फैक्टरी है....लोहे की गुदाम है, चीनी की मिल है। और भी बहुत सारा कारोबार है। सेठजी 'बहुत ही महान' पुरुष गिने जाते हैं।

और रघुराज इन्हींके दफ्तर में क्लर्क है। २५ वेतन है और ५ महँगाई का 'भत्ता' है! सेठजी दयालु सज्जन हैं। जब महँगाई के भत्ते के लिए कर्मचारियों का डेपुटेशन उनके पास गया, तो वे पूजा-गृह में भगवान की आराधना कर रहे थे। एक घंटे बाद बाहर निकले और डेपुटेशन की माँग सुनकर बोले—“भाई, इस लड़ाई ने तो सारा कारोबार चौपट कर डाला है। एक की जगह चार खर्च हो रहा है। आमदनी घटती जा रही है। ऐसी हालत में...अच्छा जाइए, प्रत्येक क्लर्क को ५ महँगाई का भत्ता मिलेगा।”

और क्लर्कों का वह समुदाय खुश होकर ही लौटा था! इनके जीवन में खुशी का अवसर ही कहाँ आता है? रुपया ही इनकी सारी खुशी है और इसलिए ५ पर इन्होंने संतोष कर लिया। संतोष करना इनका जन्मसिद्ध अधिकार है। ये ऐसे निरीह

जीव हैं, माजों 'वीतराग' हों ! परमहंस की तरह संतोपी हैं !

किन्तु रघुराज है, जो सेठजी को घृणा करता है; सारे 'पूँजीवालों' से उसे घृणा है। वह 'मैट्रिक' पास है, किन्तु हिन्दुस्तान में लाखों मैट्रिक पास हैं जो बेकार और निराश हैं। रघुराज के पिता इसी सेठजी के यहाँ लर्क थे। १५) रुपए पर उनकी बहाली हुई थी और मरते समय ये ३५) तक की तरबकी पा गए थे ! और इसीलिए जब चारों ओर से नौकरी खोजकर वह थक गया तो सेठजी ने उदारता दिखलाई। बोले—“तुम्हारे बाप की जगह तुम्हें मिलती है—किन्तु अभी तुम्हें २५) मिलेगा। मन लगाकर काम करोगे तो तरबकी हो जायगी।”

और मन लगाकर काम करते हुए दस साल हो गए किन्तु उसका वेतन ज्यों-का-त्यों रहा। सुबह दस से संध्या छ बजे तक। प्रायः दस से दस बजे रात तक ड्यूटी करनी पड़ती है। बारह घंटे की नौकरी और वेतन—२५) !

किन्तु रघुराज अकेला नहीं है। उसीकी तरह अनेक 'मैट्रिक पास'—२५) वेतन पाते हैं !...

और तब रघुराज सेठजी के विषय में सोचता है। सेठजी बड़े दानी हैं, बड़े धर्मात्मा हैं। गोशालाएँ इनके नाम पर खोली गई हैं; धर्मशाले इनकी अक्षय-कीर्ति के रूप में खड़ी सगौरव अपने निर्माता का गुणगान कर रही हैं।... इन्होंने हरिजनफंड में दस हजार गाँधीजी को दिया था; बीस हजार हिन्दू-विश्व-विद्यालय-कोष में मालवीयजी को और चालीस-हजार सरकारी

युद्ध-क्रोध में !...अखबारों हमारे सेठसाहब की तस्वीरें छापती हैं ; संपादक सेठसाहब की दानशीलता में अप्रलेख लिखते हैं और युनिवर्सिटियाँ इन्हें 'डाक्टरेट' देती हैं !

रघुराज का यदि वश चलता, तो वह सेठजी का मुँह नोच लेता । उसे लगता है, ये सारे पूँजीपति एक ही थैले के जीव हैं । वह सेठजी के आचरण से परिचित है ; वह अनेक पूँजीपतियों के आचरण से परिचित है ।...सेठजी का बेटा महीने में हजारों रुपए 'सदा सुहागिनों' पर खर्च करता है ।...स्वयं सेठजी 'नया माल' चाहते हैं और इसके लिए इनके यहाँ दर्जनों 'दलाल' हैं ।

रघुराज के पास थोड़ी बुद्धि है । उस बुद्धि का उपयोग करने पर वह पाता है कि पूँजीवाद की भित्ति शोषण पर है । सेठजी पूँजीवाद के प्रतीक हैं । पूँजीवाद अधिक-से-अधिक काम लेकर कम-से-कम पैसे देना चाहता है । और श्रम का यही अतिरिक्त मूल्य (जो शोषण द्वारा आता है) सेठ की तोंद बढ़ाता है ।

किन्तु समझकर भी रघुराज कर क्या सकता है ? सभी जगह तो यही अंधेर है !...और इतने वर्षों के कटु अनुभव ने उसे नरक और स्वर्ग का भेद बतला दिया है । वह धर्म को समझ पाया है, 'ईश्वर' का विकृत रूप उसके सम्मुख है...।

×

×

×

रघुराज ने दूसरी बीड़ी सुलगाई है । वे धिनौने, कुत्तित कीड़े उसकी आँखों के सामने मानों नाच रहे हैं । मन में ऊबकाई भर गई है । जी में मिचलाहट आ गई है ।

और बीड़ी सुलगाते हुए रघुराज के दिमाग में एक ही बात आई—आजकल बीड़ियाँ भी महँगी हो गई हैं !

बीड़ी का कश खींचने पर थोड़ी राहत मालूम हुई । दूसरा कश खींचकर उसने सोचा—दुनिया में सबसे सस्ता शौक शायद बीड़ी पीना ही है !

गरीब आदमी शौक नहीं कर सकता । यदि करता है तो जिन्दा नहीं रह सकता । शौक अमीरों की चीज है । यह 'पूँजीपति' नामधारी की 'मोनोपोली' है ।

रघुराज का मन थका है । बदन सुस्त है । दिमाग भारी है । दस घंटे लगातार लिखते रहने के बाद और हो क्या सकता है ?

दफ्तर जाते समय कमला ने कहा था—“थोड़ी साग लेते आना । तरकारी नहीं है ।”

रघुराज ने चुपचाप सुन लिया था । वह सदा चुपचाप सुन लिया करता है । वह जानता है कि सुनना उसका काम है और कहना कमला का काम ।

तरकारी के लिए पैसे चाहिए । पैसे नहीं हैं । यदि पैसे नहीं हैं तो तरकारी नहीं मिल सकती, यह सीधी-सी बात है ।

तलब मिलने में चार-पाँच रोज की देर है और जैसा हमेशा होता है, महीने की आखिरी तारीख तक जेबें अपने को 'दिवालिए' घोषित कर देती हैं !...

खिन्न मन और सिरदर्द की पीड़ा लेकर रघुराज अपने घर की गन्दी गली में घुसा । पाखाने की बदबू से मन और भी

भिन्ना उठा...काले, बदबूदार पनाले को लाँवकर रघुराज अपने ४) रुपयेवाले किराये के घर में घुसा....

तीसरी लड़की सरस्वती उसके सम्मुख आ खड़ी हुई। बोली—“बाबूजी, मेरी लेमनचूस...।”

“चल, हट !” कहकर रघुराज ने उसे एक ओर ठकेल दिया।

उसकी पत्नी कमला रुँआसे स्वर में बोली—“अजी, देखो न, माँजी की हालत आज दोपहर से बिगड़ रही है। उनका दम फूल रहा है। जाकर डाक्टर को खबर...।”

“चुप रहो !” रघुराज ने पत्नी को डाँट दिया। सिर थाम कर वह अपनी टूटी खाट पर बैठ रहा। बड़ा लड़का शिवराज सहमते हुए बोला—“बाबूजी, फीस नहीं देने के कारण नाम काट दिया गया...”

रघुराज ने सिर थाम कर माथे की नशों पर अपनी अँगुलियों फेरीं।....

दूसरा लड़का प्रभुदयाल रोनी आवाज में बोला—“बाबूजी, हम खाएँ क्या ?...लकड़ी नहीं थी, खाना कैसे पकता ?...”

और इसी समय मिट्टी तेल के अभाव में लैम्प फफककर बुझ गया...चारों ओर घोर अन्धकार फैल गया।

रघुराज का सिर घूमता-सा लगा। आँखें मींचकर उसने सोचा—“नरक क्या इससे भी विनौना हो सकता है ?”

उधर सेठजी के सुपुत्र चम्पाबाई का सिर अपनी गोद में लेकर सतृष्ण नयनों से उसके रूप-सुधा का पान कर रहे थे। फिर साढ़े नौ सौ के सोने का हार उसके गले में धीरे-धीरे उन्होंने पहना दिया। चम्पाबाई विह्वल होकर उनके गले लग गईं। अपने अधरों को चम्पाबाई के कपोलों तक ले जाते हुए सेठ साहब के साहबजादे भाव में विह्वल होकर, अस्फुट स्वर में बुदबुदाए—“मैं तो स्वर्ग में हूँ, बाई !”

कुरूप ह्याया

सत्यप्रिय को मैं जानता हूँ। आप भले ही उससे अपरिचित हों, किन्तु मैं उसकी प्रत्येक गतिविधि से परिचित हूँ। कभी वह बड़ा अलमस्त-जीव था। उसके निर्मुक्त अट्टहास में जीवन की गति का परिचय रहता था। अपने बिखरे रेशम से वालों में अपनी लंबी अँगुलियाँ फेरकर वह कहता—“मनोज, जीवन के मर्म को मैं उज्ज्वल देखता हूँ। ऐसे स्थल को मैं चिन्ता की कालिमा से कुरूप नहीं बनाना चाहता। जीवन जीने के लिए है, आदमी जब यह भूल जाता है, तभी दुख के समुद्र में उसे तैरना पड़ता है।”

मैं जरा मुस्कराकर कहता—“किन्तु तुम तो जीवन के दूसरे पहलू को देखना नहीं चाहते।”

सत्य कुछ तीव्र स्वर में कहता—“मनोज, कुरूपता को देखकर मैं सुख नहीं पाता। मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कुरूपता तो विधाता के मन की कलुषित भावना है। हम इसे क्योंकर प्यार कर सकते हैं?”

मैं जरा गंभीर स्वर में कहता—“तुम भावुकता के स्तर पर खड़े हो, सत्य ! दुनिया के स्वरूप में सौंदर्य की प्रधानता नहीं है। आज की दुनिया गंदी अधिक है। आज हमें कुरूपता में से

ही सौंदर्य ढूँढ़ना है, उसी प्रकार जिस तरह कोई यथार्थवादी स्कूल का चित्रकार मृत्यु का स्थूल रूप देकर कागज पर उतारता है और अपनी कृति को देखकर संतोष का अनुभव करता है।”

सत्य खीझकर कहता—“तुम निराशावादी हो ! जीवन को उज्ज्वल देखने की दृष्टि खो चुके हो। तभी तो तुम्हारी प्रत्येक कहानी के पात्र इतने दयनीय होते हैं !”

मैं मुस्कराकर उत्तर देता—“शायद तुम भी कभी मेरी कहानी का पात्र बन जाओगे, सत्य !”

सत्य खीझकर सिगरेट का धुँआँ छोड़ने लगता।



एम० ए० का इम्तहान देकर हम दोनों बिछुड़ गए। सत्य मेरे कालेज-जीवन का अन्यतम मित्र था। छः वर्षों तक उसका साथ रहा और एक क्षण के लिए भी मैं सत्य के प्रति अनुदार नहीं हो सका। सत्य मुझे बहुत प्रिय लगा था। उसके व्यक्तित्व में जो एक सहज आकर्षण था, वह सदा ही मुझ में अपनत्व की भावना भरने में समर्थ रहा। सत्य मेरे जीवन की परिधि में बहुत दूर तक फैला हुआ था।

सत्य के पिता एक बड़े आदमी थे। सरकार की ओर से उन्हें ‘रायबहादुर’ का खिताब था और वे स्वयं एकजीक्यूटिव के एक ऊँचे पद पर थे। माँ-बाप का वह एक मात्र लड़का था, फलतः अभाव की आँधी उसे कभी छू न सकी। जीवन और जगत् की समस्याओं को उसने अलमस्त आँखों से देखा।

ऐसे सत्य को पाकर मैं कभी-कभी सोचता था, ऐसा लड़का भावुक होता ही है ! भावना की दुनिया में वह अपनी कल्पना के पंख खोलकर दूर तक उड़ जाता है ; उड़ जाता है और उसे अपने अस्तित्व तक की सुधि नहीं रहती ।

सत्य ने जीवन को जिस रूप में ग्रहण किया, मैं उस रूप को ग्रहण करने में असमर्थ रहा । मेरे चारों ओर की फैली समस्याएँ मुझे वह सोचने को बाध्य करती थीं कि जीवन एक ऐसा लम्बा प्रश्न है जिसे देखकर आदमी शिथिल हो जाता है ।

महीनों सत्य से भेंट नहीं हुई । एक मुफस्सिल कालेज का गरीब लेक्चरर होकर मैं अपने अरमानों को (जो निश्चय ही कभी अत्यंत प्रखर और प्रदीप्त थे) पी गया । परिवार की भ्रंशों में जीवन का सौंदर्य छिप गया । कुरूपता की रेखाएँ ही स्पष्ट हो उठीं ।

एकाएक ही मुझे सत्य का पत्र पाकर आश्चर्य हुआ । सत्य ने लिखा था :—

मनोज भैया,

तुमसे एक बात पूछनी है । आजकल मैं बहुत ही ज्यादा उद्विग्न हूँ । तुम जानते हो (चूँकि मेरी कोई बात तुमसे छिपी नहीं है)—अबतक मैं लड़कियों से भागता रहा था । किन्तु अब मैं बँध गया हूँ । एक लड़की है जो मेरे जीवन में आकर मेरी सारी खुशी छीन ले गई है । यह लड़की असाधारण बिल्कुल नहीं है । तुम सुनकर हँसोगे—उसका ब्याह भी पिछले साल हो

चुका है। किन्तु न जाने क्यों यह लड़की मुझे बहुत भा गई है। उसकी आँखों के बीच एक ऐसी तरलता है जो मेरी ओर पियलती नजर आती है। उसकी दृष्टि बर्दाश्त नहीं कर सकता। उन नयनों की शक्ति पर मैं अवाक् हूँ।

लता (यही उस लड़की का नाम है) के पिता आई० एम० एस० में हैं। मेरी कोठी के बगल में जो नई बिल्डिंग बनाई गई थी, उसीमें ये किराएदार की हैसियत से रह रहे हैं। लता के भाई (जो इंजीनियर हैं) ने मुझे चाय पर बुलाया था। लता से वहीं परिचय हुआ। सिर से पैर तक मैं सिहर गया। हल्के, गोरे रंग की दुबली लता मेरे अंतर को मथ गई। चाय का स्वाद मुझे नहीं मालूम हुआ। संभवतः जीवन में पहली बार मुझे कुछ संकोच हुआ। तुम जानते हो, संकोच के संस्कार मैं सदा से तोड़ता आया हूँ। मैं नदी की गति की तरह उन्मुक्त होना पसंद करता हूँ। किन्तु लता की मुस्कान से मेरे एक युग का संकोच सिमट बैठा। चाय की प्याली छलक उठी। टाई बदरंग हो गई। साथ ही मैंने सोचा—जीवन क्या इसी तरह कभी बदरंग भी हो जाता है ?

तुम्हारी बात याद आ गई। तुम इन सिद्धांतों पर विश्वास करते थे। मैं तुम्हारा मजाक उड़ाता था। उसदिन सोचना पड़ा, मनोज भैया की बात क्या सच है ?

• मैं लता को लेकर हैरान हूँ। यह लड़की जब हँसती है तो जीवन की गरिमा मूर्त्त हो उठती है। मैंने प्रथम बार अनुभव

किया, किसी लड़की की हँसी हृदय पर इतना आनन्द बिखेर सकती है !

किन्तु सब कुछ रहने पर भी लता का चेहरा मुझे एक अजीब सूना लगता है। पहले दिन ही देखकर मैं हताश हो गया। नहीं तो, यह लड़की पूर्ण नहीं है ! यह सूनापन तो एक अवरोध है। आखिर इन तरल आँखों के नीचे ये मौन, कातर, निष्प्रभ, उदास रेखाएँ क्यों हैं ?

पूछने पर वह चुप मेरी ओर देखती रह गई थी। उसने कुछ रुक कर कहा था—“सत्य बाबू, मैं अपने जीवन से समझौता नहीं कर पाई !” उत्तर सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। जीवन से क्या समझौते की कोई आवश्यकता है ? जीवन क्या स्वयं समर्थ नहीं है ? समझौता को मैं दुर्बलता का पर्याय मानता हूँ। यह किसी लोण काँच के वर्तन की तरह टूट सकती है। मैं ऐसी धातु की भित्ति पर जीवन का निर्माण करने के पक्ष में नहीं हूँ।

लता की बात उस रात मैं बहुत देर तक सोचता रहा।

मनोज भैया, मैं क्या चाहता हूँ, यह स्वयं समझ नहीं पाया ! मैं क्या लता को चाहता हूँ ? लता को घेर कर क्या अपनी गति को कुंठित कर दूँगा ? और फिर वह क्या एक सीमा से दूसरी सीमा में आ सकती है ?...

मैं पागल हो जाऊँगा, मनोज भैया ! मुझे बचाओ। तुम

मुझे सदा से बचाते आए हो। आज अत्यंत क्लान्त होकर यह पत्र लिख रहा हूँ। उत्तर लौटती डाक से देना।

तुम्हारा—

सत्य'

पत्र पढ़कर मैंने अपनी आँखें मीचीं। सत्य की मूर्ति मेरी आँखों के सम्मुख नाच गई। वह गौर वर्ण का सुदर्शन लड़का! भ्रातृ-स्नेह से मेरा हृदय उमड़ आया। पागल रह गया सत्य! अब भी उसके स्वभाव में वे ही तंतु वर्तमान हैं?...

मैंने एक कार्ड लिखा :

‘तुम भावुकता के स्तर से ऊपर नहीं उठे, यह एक दुर्भाग्य है! लता को पाने का प्रयास तुम्हारा दुस्साहस होगा। लता को पाकर भी तुम उसे सजीव नहीं रख सकते। तुमने लता के विषय में जितनी बातें लिखी हैं, उतनी से ही मैंने लता की आकृति तैयार कर ली है। सत्य, तुम मेरी एक बात मानना। लता को जीवन में संभवतः बहुत ही कड़वी अनुभूति हुई है और इसी के फलस्वरूप वह जीवन से समझौता करने में असमर्थ है। लता के लिए मुझे दुःख है; किन्तु तुम्हारे लिए झुँझलाहट भी है। तुम (जो युनिवर्सिटी के रेकडे तोड़ते आए) इतनी मोटी बात भी नहीं समझ पाये!

लता से दूर रहो, सत्य! यही मुझे कहना है। तुम्हारा मनोज भैया तुमसे अधिक लता को पहचान पाया है।

अपनी माँ को मेरा प्रणाम कहना ।

तुम्हारा—

मनोज ।’

एक सप्ताह बाद सत्यका दूसरा पत्र आया :

मनोज भैया,

लता को ‘फिट’ की बीमारी है । मैं और भी बहुत कुछ जान पाया हूँ । लता का पति रावलपिण्डी में सब-जज है । किन्तु पति को लेकर वह कभी हैरान नहीं होती । एक दिन वह मुझ से बोली—“मैं अपने पति पर दया करती हूँ !”

लड़की के साहस पर मुझे घोर आश्चर्य हुआ । किसी हिन्दू लड़की के मुख से ऐसा वाक्य निकल सकता है, इसकी मुझे आशा न थी । पति पर दया !...दया तो घृणित वस्तु है, मनोज भैया ! दया और घृणा में मैं अंतर नहीं पाता । जब हम किसी कुरूप वस्तु को देखते हैं तो पहले मन में घृणा आती है और फिर वही घृणा दया के रूप में परिवर्तित हो जाती है ! मनोविज्ञान का यह साधारण धर्म हम जानकर भी अनजान बने रहते हैं । इसलिए जब लता ने ‘पति पर दया’ की बात कही तो मैं चौंक उठा ।

लता फिर बोली—“कालेज-जीवन में मैंने अंगरेजी में एक कहावत पढ़ी थी । उसका आशय यह था कि दुनिया में ट्रेजडी के दो प्रकार हैं । एक, जो आदमी चाहता है, नहीं पाता ! और दूसरा, वही पाता है जो वह नहीं चाहता !”

मेरे शरीर में एक बिजली दौड़ गई। मैंने लता को गौर से देखा। फिर तुम्हारी बात याद आ गई। धुँधलापन हट गया।

लता ने फिर कहा—“मृत्यु को दार्शनिकों की भाँति मैं एक विराम नहीं मानती। मैं इसे ट्रेजडी मानती हूँ। मैं मृत्यु से घृणा करती हूँ, चूँकि यह कुरूप है, कड़वी है।” लता ने एक दीर्घ सांस लेकर कहा—“किन्तु यह सच है और कितना भयानक सच है ! इसी मृत्यु ने एक दिन अमित को मुझसे छीन लिया..... इसी नागिन ने मेरे आनन्द में जहर मिला दिया !”

लता सुबक कर रो पड़ी।

अमित ?.....

मनोज भैया, मेरे हृदय की गति जैसे रुकती-सी लगी। लता की ट्रेजडी क्या अमित की मौत है ?.....यह अमित ही लता के जीवन पर छाकर रहा !.....और तब मुझे अपने पर और उस बंचारे ‘सब-जज्ञ’ पति पर घोर दया (जिसे दूसरे शब्द में तुम ‘घृणा’ भी कह सकते हो) हो आई !

मनोज भैया, मैं और बर्दाश्त नहीं कर सकता। लता को सम्मुख रखकर अपने को स्वस्थ नहीं रख सकता। मैं आज ही बँगला खाली करने की नोटिश दे रहा हूँ। मेरे पिताजी हैरान हैं कि आखिर बात क्या हुई ?.....मेरे संसारी, बेचारे पिता (१७५) मासिक किराए को जाते देख कुछ झुँझला उठे हैं। किन्तु मेरी जिद वे जानते हैं; इसलिए चुप रह गए हैं।

मनोज भैया, आज नोटिश भेजकर मैं कुछ शीतलता का अनुभव कर रहा हूँ। काश, इस समय तुम होते ! तुम्हारी छाती में मुँह छिपाकर मैं भिषककर रोना चाहता था ! आशीर्वाद दं कि तुम्हारी सीख मैं ग्रहण कर सकूँ।

—व्यथित, सत्य'



लेखक की प्रकाशित पुस्तकें

कहानी-संग्रह

- (१) देवता : पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय ।
- (२) विभेद : ग्रंथमाला कार्यालय, पटना ।
- (३) अन्तर की बात : पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय ।
- (४) खरा और खोटा : लक्ष्मी-बुक-स्टोर्स, कल्याणी,
मुजफ्फरपुर ।
- (५) कटे पंख : पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय ।

उपन्यास

- (१) टूटती कड़ियाँ : पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय ।
- (२) आदि और अन्त : माया-प्रेस, इलाहाबाद ।

